# प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला–6

# प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा

लेखक

**गिजुभाई**

अनुवाद

काशिनाथ त्रिवेदी

**मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,**

राजलदेसर (चूरू) 331802

© विमलाबहन बधेका
दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर–364002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

आर्थिक सहयोग :
श्री रिद्धकरण बुधेड़िया
द्वारा श्री सरदारमल रिद्धकरण बुधेड़िया
राजलदेसर (चूरू) 331 802

प्रकाशन-वर्ष : 1987
प्रतियां : 1,100
मूल्य : आठ रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स,
सुगन निवास, बीकानेर

# प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता–पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे

स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना जरूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गांधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव प्रायः हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक-सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' के प्रकाशन का व्यय-भार राजलदेसर के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री सरदारमल रिद्धकरण दुधेड़िया ने सहर्ष वहन किया है। अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने हैं वे। इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए जाने-माने भाषा विज्ञानी श्री पुरुषोत्तमलाल तिवारी का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

**मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति**
**राजलदेसर**

**—कुन्दन बैद**

**संपादक का निवेदन**

# हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डांट-फटकार उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी ही नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उसकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनः प्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं

कि परम मंगलमय प्रभु को परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्द: तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. यदि आप शिक्षक हैं
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएँ अब सन् 1987 में क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने ओर बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर

स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रन्थमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पदचिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बेंद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बेंद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है !

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव—पीपल्याराव,
इन्दौर—452 001

## भूमिका

# भाषा शिक्षण का एक अभिनव प्रयोग

आम तौर पर हिन्दी-शिक्षण या भाषा के रूप में उसके सीखने-सिखाने की बात अपने देश में विचार करने लायक नहीं मानी जाती। हमारी शिक्षा में ठेठ पहली कक्षा से लेकर आगे स्नातक स्तर तक भाषा के रूप में हिन्दी-शिक्षण का कोई भाषा-मनोवैज्ञानिक रूप विकसित हुआ हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

ऐसे में यदि किसी शिक्षक का कोई वैसा प्रयास देखने को मिले तो उस पर ध्यान जाना स्वाभाविक ही कहा जाएगा।

अपने देश में हिन्दी चाहे शिक्षण का माध्यम रही है, उपनिवेशी शिक्षा के ढांचे में उसका भाषातात्विक रूप नहीं विकस सका—यह तथ्य है। बच्चों की भाषिक आवश्यकता और गरज के अनुसार कब, कहाँ, क्या, कैसे सिखाया जाए, इस पर किसी शिक्षक ने कोई काम किया हो, ऐसा देखने-सुनने को नहीं मिला।

व्याकरण तो कई बने हैं। स्कूली व्याकरणों की भी अनन्त सूचियाँ हैं, मगर वे भाषा सिखाने का प्रयोजन पूरा करती हों यह मानना कठिन काम है।

बच्चा अपने वातावरण से—आँचलिक प्रकृति के अनुकूल—जो ध्वनि-साँचे, शब्द-साँचे, वाक्य-साँचे, प्रयोग-रीतियाँ सीखकर स्कूल में आता है, उन्हें परिनिष्ठित हिन्दी या किताबी भाषा में संक्रमित करने का काम प्राथमिक कक्षाओं के शिक्षक का होता है।

परम्परा से यह चलन रही है कि बच्चों को चित्रों वाली प्रवेशिका पकड़ा दी जाती है, चित्र के साथ वर्ण का नाम जोड़ कर वर्णमाला रटा दी

दी जाती है और उसी रटंत प्रक्रिया में पाठ-के-पाठ याद करा दिए जाते हैं। इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया जाता कि बच्चा सभी ज्ञानेंद्रियों के सम्मिलित प्रयास से सीखता है। वस्तु, अर्थ और वर्णों की आकृति के समन्वित अभ्यास से सीखता है।

हमारी स्कूलों में शिक्षण के स्तर पर इस तरह की विधि के विकास की कमी आज भी है! हिन्दी भाषा की विशेषता यह है कि उसकी वर्णमाला में स्वर, उनकी मात्राएँ, वर्ण, संयुक्त वर्ण जैसी कई आकृतिगत और ध्वनिगत पेचीदगियाँ ऐसी होती हैं कि बच्चों को बहुत धीरज के साथ, अभ्यास के साथ और वर्गबद्ध तरीके से उन्हें सिखाने की जरूरत होती है।

यदि शिक्षक को उन सबका पता हो, उसे समय मिले और साधन मिलें तो वह ऐसी विधियाँ अपना सकता है जिनसे बच्चे स्पष्टता के साथ, अर्थ-ग्रहण के साथ और प्रामाणिकता के साथ वाचन और लेखन सीख सकें।

हमारी प्राथमिक शिक्षा में—बल्कि प्रारंभिक कक्षाओं में अभी तक ऐसी बुद्धि विकसित नहीं हुई है।

गिजुभाई बधेका ने यह सब अपने प्रयोगों में अनुभव किया था और उनके अनुभव एक पुस्तिका के रूप में 1934 में प्रकाशित भी हुए थे। यदि ये अनुभव और उनके प्रयोग देशव्यापी हो सकते तो आज मातृभाषा सिखाने की रीतियों में काफी विकास हो सकता था।

उनकी इस पुस्तिका—'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' में भाषा सिखाने की जो मूल धारणा विकसित हुई है, वह इस तरह से है कि—

1. प्राथमिक शाला में भाषा की शिक्षा के तीन आयाम होने चाहिए। एक तो **वाचन** शिक्षण का, जिसमें वर्ण ध्वनि, अक्षर ध्वनि, शब्द का वाचन, बारहखड़ी का अभ्यास और पुस्तकेतर वाचन पर अभ्यास हों।

   दूसरा **लेखन** शिक्षण का, जो कि वाचन और ध्वनि-लिपि शिक्षण के रूप में समान्तर चले। उसके लिए देखकर लिखना, सुनकर लिखना, वर्तनी विश्लेषण, सुलेखन, पत्र लिखना और लेख लिखना···इस क्रम में विकास किया जाए।

   तीसरा आयाम **कविता** शिक्षण का है। उसे हम लोग बालगीत कहा करते हैं।

2. अर्थ ग्रहण के लिए हमारी प्राथमिक शिक्षा में शब्दार्थ अमोघ अस्त्र माना जाता है। हर समझदार भाषा शिक्षक गिजुभाई की इस मान्यता से सहमत होगा कि 'बालकों से न तो शब्दों के अर्थ लिखवाने चाहिए और न उन्हें यों ही अपनी ओर से अर्थ बताने चाहिए।' शब्द अपने प्रसंग में, अपने संदर्भ में पाठक को अर्थ प्रेषित करता है। 'बार-बार सुनना, बार-बार वाचन करना ही अर्थ के स्फुरण का उपाय है।' 'कुछ शब्दों के अर्थ तो विद्यार्थी बड़ा हो जाने पर ही समझ सकेगा। किन्तु, शिक्षक की विधि आदर्श वाचन की होनी चाहिए।' आदर्श वाचन प्राथमिक स्तर पर सर्वश्रेष्ठ और हानिरहित विधि है कि बालक को सही सुनने और सही अनुतान का आदी बनने का अवसर मिले।

   हमारी स्कूलों में, प्राथमिक कक्षाओं में, बच्चों से वाचन कराने की गलत प्रथा चल पड़ी है। बच्चा आरंभ से ही वाचन में गलती करे, उसे डाँटा जाए, सुधारा जाए—उससे भाषा सीखने का काम नहीं होता, आत्मविश्वास की हानि जरूर होती है। इस बात पर हमारे भाषा-शिक्षकों को विचार कर सकना चाहिए और गिजुभाई के विचारों पर प्रयोग करके परिणाम की जांच करनी चाहिए।

3. शब्द शिक्षण के बारे में भी गिजुभाई के निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं। उनका कहना है कि 'जितने शब्द पदार्थ दिखाकर समझाए जा सकें, उतने तो पदार्थ दिखा कर ही समझाने चाहिए। कोई वस्तु एकाधिक इन्द्रिय से जानी जाती हो तो उन सब इन्द्रियों द्वारा उसका परिचय कराना चाहिए। उसी तरह भाषा में कोई मूल अक्षर (शब्द) हो और उसके

रूपांतर भी हों तो उस शब्द को रूपांतरों के साथ जोड़ कर अर्थ ग्रहण का अवसर बनाना चाहिए। यदि **दाना** शब्द आए तो **दाना-पानी, दाने-दाने को मोहताज, दाने-दाने पर खाने वाले का नाम**—ऐसे प्रासंगिक प्रयोग, ऐसी भाषा-रीतियों का संयोजन वास्तविक भाषा सीखने की विधि बनती है। **जड़** आए तो **जड़-मूल, जड़ जमाना, जड़ें उखाड़ना, मूलधन, मूलक**– ऐसे सहयोगियों या परिजनों को बच्चों के सामने उभारना उन्हें भाषा सिखाने का सही तरीका होगा।

ऐसी कई बातें इस पुस्तिका में हैं जो प्राथमिक स्तर पर भाषा सिखाने की हमारी परम्पराओं को झकझोरती हैं। शिक्षा जगत् में यह पुस्तिका प्रेरणादायक हो सकती है, बशर्ते कि शिक्षक इसका अर्थ ग्रहण करें।

**—पुरुषोत्तमलाल तिवारी**

उदयपुर
अनन्त चतुर्दशी, २०४४

**शिक्षा की मेरी योजना में हाथ अक्षरों की आकृति खींचने या अक्षर लिखने के पहले औजार चलायेगा। बालक की आँखें जैसे जीवन में दूसरी चीजें देखेंगी, उसी तरह वे अक्षरों और शब्दों के चित्र देखेंगी और पढ़ेंगी; कान वस्तुओं के नाम और वाक्यों के अर्थ सुनेंगे और उन्हें पकड़ेंगे। सारी तालीम स्वाभाविक और रसप्रद होगी और इसलिए दुनिया में सबसे सस्ती तथा अधिक-से-अधिक तेज गति वाली होगी।**

ह. 28-8-'37 ('मोहनमाला,' पृष्ठ 108) **गांधीजी**

## निवेदन

वातावरण पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि चहुं-ओर नवीन शिक्षा का मंगलाचरण हो चुका है। पुरानी शिक्षा का मृत्यु-घण्ट बज चुका है, धीरे-धीरे अन्त भी हो जायगा। अब नूतन शिक्षा-भवन का आरम्भ से निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है, और इस भवन-निर्माण के लिए नई दिशा-सूचक कुछ पुस्तकों की भी आवश्यकता है।

यह पुस्तक ऐसा ही एक प्रयास है। नवीन प्राथमिक शाला के सम्पूर्ण स्वरूप का यह एक अंग है। आशा है, नये शिक्षक इसका स्वागत करेंगे। मैं उनसे अनुरोध करूँगा कि पहले वे पुस्तक के विचारों का स्वयं अनुभव करें और उनकी उपयोगिता का विश्वास हो जाने पर उन विचारों का प्रचार भी करें।

इस विषय में अभी सुधार की बहुत गुंजाइश है। पाठकों और प्रयोग करने वालों के अनुभवों का सधन्यवाद स्वीकार करके मैं अपने इस कार्य में आगे बढ़ना चाहता हूँ, और इसीलिए प्राथमिक पाठशाला के सब शिक्षक भाई-बहनों के सहयोग का प्रार्थी भी हूँ।

—गिजुभाई

## गिजुभाई का जीवन वृत्त

1885 15 नवंबर को जन्म, जन्म स्थान चित्तल, सौराष्ट्र
1897 प्रथम विवाह स्व. हरिबेन के साथ
1906 द्वितीय विवाह श्रीमती जड़ी बेन के साथ
1907 पूर्वी अफ्रीका प्रस्थान
1909 स्वदेश आगमन
1910 बम्बई में कानून की पढ़ाई
1913 हाई कोर्ट प्लीडर, बढ़वाण केम्प
1913 श्री नरेन्द्र भाई का जन्म
1915 श्री दक्षिणामूर्ति भवन के कानूनी सलाहकार
1916 श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन से जुड़े
1920 बाल मन्दिर की स्थापना
1922 भावनगर में तख्तेश्वर महादेव मंदिर के समीप टेकड़ी पर बने बाल-मन्दिर भवन का उद्घाटन पूज्या कस्तूरबा गांधी के कर-कमलों से
1925 प्रथम मोंटेसरी सम्मेलन, भावनगर
1925 प्रथम अध्यापन मन्दिर स्थापित
1928 द्वितीय मोंटेसरी सम्मेलन अहमदाबाद–अध्यक्षता की
1930 सत्याग्रह संग्राम में : शरणार्थी शिविरों में निवास, वानर परिषद सूरत, अक्षरज्ञान योजना प्रारम्भ
1936 श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन से मुक्त
1936 करांची में आयोजित बाल मेले के अध्यक्ष : कच्छ का प्रवास
1937 सम्मान थैली भेंट
1938 गुजरात का प्रवास–राजकोट में अंतिम अध्यापन मंदिर शुरू किया
1939 23 जून को बम्बई में देहावसान

# अनुक्रमणिका

## प्रथम खण्ड : वाचन-शिक्षण


| | | |
|---|---|---|
| 1. | मूलाक्षरों का शिक्षण | 17 |
| 2. | चल मूलाक्षर | 21 |
| 3. | बारहखड़ी का शिक्षण | 23 |
| 4. | चिट्ठी-वाचन | 24 |
| 5. | शब्द-पोथी | 29 |
| 6. | संयुक्ताक्षरों का शिक्षण | 32 |
| 7. | आदर्श वाचन | 35 |
| 8. | शाला में वाचन | 40 |
| 9. | मूक-वाचन | 44 |
| 10. | मौखिक वाचन | 46 |
| 11. | इतर वाचन | 48 |


## द्वितीय खण्ड : लेखन-शिक्षण


| | | |
|---|---|---|
| 1. | रेखा-चित्रण | 51 |
| 2. | श्रुत लेखन | 54 |
| 3. | हिज्जों का शिक्षण | 56 |
| 4. | शब्दों का पृथक्करण | 59 |
| 5. | सुन्दर लेखन | 64 |
| 6. | पत्र-लेखन | 67 |
| 7. | निबन्ध-लेखन | 71 |


## तृतीय खण्ड : कविता-शिक्षण


| | | |
|---|---|---|
| 1. | कविता-शिक्षण | 80 |
| 2. | कविता कैसे सिखाई जाय ? | 90 |


## चतुर्थ खण्ड : व्याकरण


| | | |
|---|---|---|
| 1. | व्याकरण | 100 |


## प्रथम खण्ड : वाचन-शिक्षण

### १

### मूलाक्षरों का शिक्षण

मूलाक्षर या वर्णमाला सिखाने की अनेक रीतियाँ हैं। रेती के अक्षरों की सहायता से सिखाने की रीति का प्रयोग प्राथमिक पाठशाला में करने–जैसा है। मूलत: यह रीति उन बालकों के लिए है, जो मोण्टीसोरी पद्धति से सीखते हैं; अर्थात् जिन बालकों की इन्द्रियों का यथोचित विकास हुआ है, उनके लिए इस रीति से अक्षर सीखने में सरलता और स्वाभाविकता है। फिर भी प्राथमिक पाठशाला में इसका उपयोग कर सकते हैं। इससे अनेक लाभ होते हैं। आजकल जिन रीतियों से अक्षर सिखाये जाते हैं, उनमें अकेली आँख की ही सहायता ली जाती है। इससे आँख को छोटी उम्र में आवश्यकता से अधिक हानि सहनी पड़ती है। फिर आँख की मदद से अक्षर सिखाये जाते हैं, इसलिए आँख की स्मृति को ही अधिक काम करना पड़ता है। दूसरे, इस रीति से अक्षर तो याद रह जाते हैं, पर हाथ से उन्हें बनाना नहीं आता। इस कार्य के लिए हाथ को तैयार करना चाहिये। पर चूँकि ऐसा नहीं होता, इसलिए अक्षर खराब आते हैं। बालक पढ़ना जल्दी सीख लेता है, लिखना सीखने में देर लगती है। पढ़ने में दिलचस्पी अधिक बढ़ जाने से वह लिखने का आलसी भी बन जाता है। बाद में अक्षर सुधारने के लिए 'कित्तों', 'कॉपीबुकों', आदि का व्यवहार करना पड़ता है और उन पर काफी खर्च भी करना होता है। वाचन पहले और लेखन बाद में होने के कारण वाचन-लेखन का सम्बन्ध टूट जाता है और ये दो भिन्न-भिन्न विषय समझे जाते हैं। साथ ही, आँख से सिखाने के लिए जिस प्रकार के मूलाक्षर और चित्र-पोथियाँ तैयार की जाती

हैं, उन्हें मनोरंजक और त्वरित शिक्षण में सहायक बनाने के हेतु से रंग-बिरंगे अक्षरों में छापा जाता है। अक्षरों के साथ चित्र भी होते हैं। इससे अक्षर-शिक्षण में एकाग्रता आने के बदले व्यग्रता आती है। बाद में पढ़ते समय बालक विचित्र ढंग से पढ़ता है। जैसे, 'बरफ' पढ़ते समय बालक बोलता है :—'बकरी का ब', 'रथ का र', और 'फल का फ'—'बरफ'। इस रीति से बालक का ध्यान अर्थ की ओर नहीं जाता, उच्चारण पर जाता है। आगे चलकर उसे बिना अर्थ समझे पढ़ने की आदत पड़ जाती है। ऊँची कक्षाओं में व्याख्यान देने और अर्थ समझाने की आवश्यकता का एक मूल कारण यह भी है। इस प्रकार आजकल की प्रचलित रीतियों के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की जा सकती हैं। पर यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं।

अब हम रेती के अक्षरों से होने वाले लाभों का विचार करें। रेतीले अक्षरों की पीठ पर केवल सफेद काग़ज़ चिपका रहता है। उनके आसपास सजावट या चित्र नहीं होते। इससे बालक का ध्यान अक्षर पर ही स्थिर होता है। ये अक्षर आँख और स्पर्श की सहायता से सीखे जाते हैं, इससे एक ओर आँख इनके आकारों को धारण करती है और दूसरी ओर स्पर्श उसी आकार को ग्रहण करता है; इस प्रकार दो तरह से आकार की छाप मस्तिष्क पर पड़ने से वह त्वरित और दृढ़ होती है। लिखने में आँख और हाथ के सहयोग की सदा ही आवश्यकता रहती है। इसी योग की यह क्रिया यहाँ आरम्भ ही से एक आवश्यक आदत के रूप में होती रहती है। जब बालक अक्षर घोटता है, तो इस सहायक क्रिया से काम लेता है। घोटने से अक्षर का मरोड़ सहज ही बालक के हाथ पर चढ़ जाता है। बाद में हाथ जैसा मरोड़ सीखा हो, वैसा अक्षर बनाने में सरलता होती है और अक्षर अच्छे आते हैं; क्योंकि बालक के सामने रेती के सुन्दर अक्षरों का एक निश्चित आदर्श रहता है। यों, आँख और हाथ के सहयोग से अक्षर जल्दी ध्यान में आते हैं और उनकी आकृति भी अच्छी बनती है। अक्षर सिखाते समय ही, जैसा कि आगे कहा है, अक्षर का नाम भी बताना होता है। जिस समय आँख और स्पर्श को अक्षर के आकार का अनुभव होता है, उसी समय अक्षर का नाम बता देने से नाम-संज्ञा याद रखने में सरलता होती है। आकार के अनुभव को यथासमय नाम-संज्ञा



के साथ जोड़ देने से 'बकरी का ब' वाले ढंग से सिखाने की सिरपच्ची से छुटकारा मिल जाता है। इस रीति से अक्षर सिखाने में एक दूसरा लाभ भी है। सेगुइन के तीन क्रमों में सिखाने की रीति मनोविज्ञान के नियमानुसार है। प्रथम, वस्तु का परिचय और नाम-संज्ञा के साथ उसका सम्बन्ध, फिर नाम संज्ञा की स्मृति से वस्तु का निदर्शन और अन्त में वस्तु-दर्शन से नाम-संज्ञा। ज्ञान-प्राप्ति की यह स्वाभाविक और सरल रीति है। इससे अक्षरों को याद रखने में सरलता तो होती ही है, साथ ही ज्ञान-प्राप्ति की स्वाभाविक क्रिया का आरम्भ होता है और आदत पड़ती है। यह दूसरा लाभ अधिक क़ीमती है। इसके कारण अनुभव के साथ ही नाम की खोज करने का स्वभाव बालक में पैदा होता है। दूसरे, इस रीति से एक साथ दो अक्षर सिखाये जाते हैं। ये अक्षर आकार में एक-दूसरे से भिन्न होने चाहिये। यह रचना स्मृति के सिद्धान्त पर है। हमें वस्तु के साम्य या विरोध के कारण वस्तुओं की स्मृति रहती है। अकेले एक अक्षर को याद रखने की अपेक्षा दो अक्षरों को एक-दूसरे के साम्य या विरोध के सम्बन्ध से याद रखने में सरलता होती है। इससे स्मृति की क्रियाशक्ति को तालीम मिलती है। यह भी एक लाभ ही है। इस प्रकार के अक्षरों से खेल भी खेले जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षक तख्ते पर क लिखे या क दिखाये और बालकों से कहे कि क ढूंढ़ लाओ। अथवा बालक आँखों पर पट्टी बाँधकर अँगुली फिरायें और अक्षर पहचान लें। इस प्रकार के अक्षर हाथ से बनाये जा सकते हैं, और उनका एक 'सेट्' अरसे तक काम आ सकता है। पाठशाला में एक 'सेट्' रख लेने से बालकों को चित्र-पोथियों, बाल-पोथियों या प्राइमरों के खर्च से बचा लिया जा सकता है। आगे यह भी लिखा जायगा कि बाल-पोथियों के बिना भी कैसे काम चल सकता है। मोण्टीसोरी शालाओं में ये अक्षर व्यक्तिगत रूप से सिखाये जाते हैं। प्राथमिक शाला में व्यक्तिशः सिखाना कदाचित् कष्टकर हो। कुशल शिक्षक व्यक्तिशः सिखाने की रीति निकाल सकता है। लेकिन व्यक्ति के बदले समूह को सिखाना आवश्यक प्रतीत हो, तो वह भी किया जा सकता है। अक्षर सिखाने की रीति तो वही रहेगी। पर जब एक को सिखाया जाय, तो सब ध्यान दें और घोटने और बोलने का काम सबसे बारी-बारी से कराया

जाय। अक्षर सिखाने के दूसरे खेल भी बनाये जा सकते हैं। दो-दो अक्षरों की जोड़ी तैयार करके एक-एक थैली में रख दी जाय। इस तरह बीस जोड़े बनें, तो 40 विद्यार्थियों की कक्षा में मूलाक्षरों के दो सेट् आवश्यक होंगे। हर एक थैली में जिन अक्षरों की जोड़ी रक्खी हो, थैली पर उसी आकार में वे अक्षर लिख देने चाहिये। फिर प्रत्येक बालक को एक-एक थैली देकर शिक्षक अन्दर के अक्षरों को घोटने और उनका नाम पूछे जाने को कहे। बस, एक साथ सारी कक्षा घोटने और नाम सीखने के काम में लग जायगी। शिक्षक पर जोरों का धावा होगा, पर सारी कक्षा मधुमक्खी के छत्ते-सी उद्योगमय दिखाई पड़ेगी। व्यक्तिगत काम चलेगा। जब बालक एक थैली के अक्षर सीख ले, तो वह दूसरे बालक से अपनी थैली बदल लिया करे। इस प्रकार सब थैलियों के अक्षर सब बालक सीख जाएँगे। बालकों को यह छूट भी दे देनी चाहिये कि वे परस्पर अक्षरों के नाम पूछ लिया करें और एक-दूसरे को अक्षर सिखा दें। जिसे जो अक्षर आ गये होंगे, उन्हें वह दूसरों को सिखाना पसन्द करेगा। हर एक बालक को एक गत्ता दिया जाय। उस पर वह उन अक्षरों को लिख ले, जो उसे याद हो गये हैं। इससे वह स्वयं जान सकेगा कि कुल कितने अक्षर सीख चुका है। अक्षरों का एकाध सेट् अधिक रक्खा हो, तो उसमें से मनचाहा अक्षर लेकर कोई भी बालक उसे आसानी से घोट सकता है। याद रहे कि अक्षरों का यह साहित्य या सरंजाम एक स्थायी वस्तु है। इस रीति से कुछ ही देर में सारी कक्षा को दो-दो अक्षर याद हो जायँगे। इसके अतिरिक्त, कक्षा में बिखरे हुए अक्षर भी रक्खे जा सकते हैं। शिक्षक की उपस्थिति में विद्यार्थी उन्हें घोटते रहें और नाम पूछते चलें। जो अक्षर याद हो जाये, उसे पट्टी पर लिख लें। संक्षेप में, तत्व की रक्षा करते हुए अक्षर सिखाने की रीति का सारा आधार तो वर्ग के शिक्षक की कुशलता पर है। चतुर शिक्षक अनेक युक्तियाँ सोच सकता है।

अब सिखाने की रीति को लीजिये। हाथ धुलाने के बाद अक्षर सिखाने की प्रथा चल जाये तो अच्छा ही है; क्योंकि हमारे बालक प्रायः गन्दे रहते हैं और स्वच्छता की ओर उनका ध्यान जाना एक लाभ है। दूसरे, हाथ साफ रहने से स्पर्श का काम अच्छा होता है। बाद में दो अक्षर देकर उन पर बारी-बारी से तर्जनी और बीच की अँगुली एक साथ घुमवानी चाहिये। उसी समय क्रम से अक्षर का नाम भी बता देना चाहिए। जैसे क और ब सिखाना है, तो क देकर क को घुटवाना और क का उच्चारण करवाना। क के घुट जाने पर ब देकर वही क्रिया फिर कराना। फिर बालक से कहना—'क दिखाओ, ब दिखाओ।' बालक सही-सही दिखा दे, तो फिर पूछना—'इसका नाम क्या? इसे क्या कहोगे?' अगर बालक नाम बता दे, तो समझिये कि उसे अक्षर आ गये हैं। नहीं तो फिर से सिखाइये। बालक की इच्छा के विरुद्ध काम न लीजिये, उसे प्रसन्न रखिये।

जैसे-जैसे बालक सीखता जाय, वैसे-वैसे उसकी पट्टी पर कील से अक्षर बना देना चाहिये। बालक की इच्छा हो तो भले ही वह क़लम से घोटे। लेकिन अच्छा तो यही है कि घोटने की टेव मूल अक्षरों पर पड़े।

सीखे हुए अक्षरों का प्रतिदिन पुनरावर्त्तन करना चाहिये। यथासम्भव प्रतिदिन वह पाठ पूछना चाहिये। इस प्रकार के अक्षर दाखिल करने के बाद अक्षरों की 'परवाँच' नहीं लिवानी चाहिये और दूसरे तरह-तरह के अक्षरों का भी त्याग करना चाहिये।

## २

## चल मूलाक्षर

आरम्भ ही से समझकर पढ़ना सिखाने के लिए और लेखन की अप्रत्यक्ष तैयारी कराने के लिए चल मूलाक्षरों का साधन व्यवहार करने योग्य है।

कार्ड बोर्ड या गत्ते के मूलाक्षर काट लेने चाहिये। ये अक्षर रेजमाल के —रेती के—काले अक्षरों के बराबर हों, तो अच्छा। अक्षर ज्यादा नहीं, तो दो इंच से अधिक लंबे तो अवश्य होने चाहिये।

व्यंजन गुलाबी रंग के और स्वर संज्ञायें (ा,ि,ु,ृ, े,) नीले रंग की हों।

स्वरों और व्यंजनों को रखने के लिए एक खानेदार पेटी बनानी चाहिये। हर एक खाने की पीठ और बाजू पर अक्षर का नाम लिखना चाहिये, जिससे

पेटी के अन्दर से अक्षर लेने और रखने में सुविधा हो। पेटी स्वच्छ और सुन्दर होनी चाहिये ।

बालक थोड़े व्यंजन जानने लगे कि तुरन्त ही उसे इस काम का परिचय कराना चाहिये। शिक्षक ऐसे दो अक्षर पसन्द कर ले, जो बालक को याद हों। अक्षर ऐसे हों कि उनका शब्द बन सके। उदाहरणार्थ, शिक्षक प और ग अक्षर पसन्द करे। फिर वह बालक को क्रम से पेटी के अन्दर से प और ग लाने को कहे। बालक के प,ग ले आने पर उन्हें बालक के द्वारा क्रम से दरी, जमीन या मेज पर रखवा दे। फिर बालक से कहे—'पढ़ो देखें, क्या है ?' 'पढ़ो' और 'लिखा है' शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर करना चाहये। इसका हेतु तो यही है कि बालक वाचन और लेखन का सच्चा अर्थ समझ जाय। बालक पहले धीरे-धीरे प ...ग......पढ़ेगा। वह बिना समझे पढ़ता दिखाई देगा। शिक्षक उसे कहे—'ज़रा जल्दी पढ़ो।' बालक जल्दी-जल्दी पढ़ेगा। प... ग...। दो चार बार जल्दी-जल्दी पढ़ने के बाद बालक आखिर पग पढ़ेगा, और उसी समय उसके मन में पग शब्द का अर्थ स्फुरित होगा—क्योंकि वह 'पग' का उच्चारण जानता है। उसका अर्थ भी जानता है। प और ग व्यंजनों को साथ में रख कर उनसे पग बुलवाने की क्रिया के साथ पुराने अनुभव के मिलते ही वाचन अर्थ-युक्त बनता है। यहाँ से समझकर पढ़ने की आदत शुरू होती है। एक बार समझ के साथ पढ़ना सीखने और उसका आनन्द ले लेने के बाद फिर बालक बिना समझे कुछ पढ़ेगा ही नहीं। जहाँ-तहाँ समझ कर पढ़ने का आनन्द प्राप्त करना उसकी एक प्रिय प्रवृत्ति बन जायगी।

बालक नये नये शब्द बनाना शुरू करेगा। पहले मन में उसका उच्चारण करेगा और देखेगा कि उनमें कौन-कौन से अक्षर हैं। फिर बालक उन अक्षरों को पेटी के खानों से निकाल कर जमायेगा और अन्त में पढ़कर यह तय करेगा कि उसने जो लिखना चाहा था वह लिखा गया या नहीं ? भूल होगी तो वह स्वयं ही सुधार लेगा, क्योंकि बग़ैर सुधारे सही-सही पढ़ा नहीं जायगा। अक्षर जमाने में अप्रत्यक्ष रूप से लेखन का काम होता रहता है। जब बालक अपने जमाये हुए शब्द पढ़ता है, तो लेखन और वाचन का सम्बन्ध जोड़ता है।



यह खेल बालकों को प्रिय है। वे अकेले या एक साथ मिलकर अनेक शब्द और फिर वाक्यों की रचना करते हैं। इसमें न जाने कितना लेखन और वाचन हो जाता है। बालकों को पता भी नहीं चलता कि वे एक प्रकार से पढ़ते हैं और लिखते भी हैं। इस खेल के परिचय से बालक बिना श्रम के पढ़ने और लिखने का बल प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे बालक एकाएक पुस्तक लेकर पढ़ने लगेंगे। उनके हाथ में पट्टी और क़लम या काग़ज और क़लम आते ही वे लिखने भी लगेंगे।

## ३

## बारहखड़ी का शिक्षण

बारहखड़ी में सिखाने लायक ये हैं—काना, ह्रस्व इ, दीर्घ ई, छोटा उ, बड़ा ऊ, मात्रा,दी मात्रा, एक मात्रा और काना, दो मात्रा और काना। इनमें से आरम्भ में काना, दीर्घ ई, दीर्घ ऊ, एक मात्रा और एक मात्री काना लेने चाहिये। शुरू-शुरू में दो मात्री काना आता नहीं, और दीर्घ से ह्रस्व या ह्रस्व से दीर्घ बालक समझ लेते हैं, इसलिए इन्हें खास तौर पर सिखाने की आवश्यकता नहीं। साधनों में गुलाबी रंग के चल मूलाक्षर और नीले रंग की मात्रायें—काना, दीर्घ ई, दीर्घ ऊ, एक मात्रा—आवश्यक होते हैं।

बालक को बारहखड़ी इस प्रकार सिखानी चाहिये : चल मूलाक्षरों में से एकाध व्यंजन लेकर बालक से पूछिये—'यह क्या है ?' वह कहेगा—'म'। अथवा बालक से कहिये—'म लाओ।' म लाने पर उसे मेज़ पर रखिये। बालक से जो अक्षर लाने को कहें, वे उसे याद होने चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि सब अक्षर सीख जाने पर ही बारहखड़ी सिखाई जाय। थोड़े-बहुत अक्षर सीख चुकने पर बारहखड़ी सिखानी चाहिये, जिससे बालक पढ़ना शुरू कर सके और पढ़े हुए को समझने का रस बढ़े।

जब बालक म ले आये, तो म के पास काना रखकर हम कहें—'मा' बालक से कहें—'पढ़ो, मा'। फिर प या ब मँगाकर पूर्ववत् बालक से कहें—

'पढ़ो, चा।' इसके बाद कुछ देर मा पर अँगुली रखकर बालक से कहिये, मा; फिर चा पर अँगुली रखकर चा कहिये। जब विश्वास हो जाय कि बालक ने मा और चा समझ लिये हैं, तो उससे कहिये—'मा दिखाओ।' बालक दिखा सके, तो उससे पूछिये—'यह क्या है?' यहाँ वे ही अक्षर-शिक्षण वाले सेगुइन के तीन क्रम आते हैं। अक्षर-शिक्षण की दूसरी सूचनाओं को भी यहाँ ध्यान में रखना चाहिये। मा और चा आ जाने के बाद दोनों कानों को रहने दीजिये और एक काने के पहले क मँगवाकर रखिये और दूसरे के पहले ह रखिये। क को अँगुली से छुआकर का बोलिये और ह को अँगुली छुआकर हा बोलिये। बालक के समझ चुकने पर फिर से सेगुइन के दो क्रम पूरे कीजिये। जैसे, हा दिखाओ, का दिखाओ। यह क्या है? यह क्या है?

इस तरह पाँच-दस अक्षर सिखा देने से काने का रहस्य बालक की समझ में आ जायगा। काने के बाद उपर्युक्त रीति से दीर्घ ई सिखाइये और फिर दीर्घ ऊ, इत्यादि।

बहुधा यह देखा गया है कि बालक का और क के पढ़ने में कोई भेद नहीं करता; अर्थात् वह काना पढ़ता है, पर काना हटा लेने पर भी क को का पढ़ता है। ऐसे बालकों के लिए पहले क रखकर उनसे पूछिये—'यह क्या है?' वे कहेंगे—'क' फिर उसके पास काना रखकर पूछिये—'यह क्या है?' बालक का कहेंगे। इस प्रकार दो-चार बार करने से बालक क और का का अन्तर समझ जायँगे।

## ४

## चिट्ठी-वाचन

वर्णमाला और बारहखड़ी सीख चुकने के बाद बालक शब्द-वाचन की ओर मुड़ता है। समझकर पढ़ने का आरम्भ यहीं से होना चाहिये। यदि इसी समय से बालक जो भी पढ़े, समझ कर पढ़ने लगे, तो आगे चलकर उसे शब्दार्थ आदि सिखाने की माथापच्ची न करनी पड़े। इसके लिए चिट्ठी-वाचन आरम्भ करना चाहिये।

शब्द पढ़ सकने वाले बालक से आप कहिये—'मैं जिस वस्तु का नाम लिखूँ, उसे तुम दिखाओ या लाओ।'

फिर पट्टी पर या तख्ते पर परिचित शब्द लिख दीजिये। घर, नख, पग, जीभ, शकर, मटर, ईख, आम आदि। फिर बालक से कहिये कि वह उन्हें पढ़े। पढ़कर वह घर, नख, पग, जीभ दिखाएगा और शकर, मटर, ईख, आम लाएगा। इससे उसमें यह समझ पैदा होगी कि वह जो कुछ पढ़ता है, उस सबका कुछ-न-कुछ अर्थ होता है।

आरम्भ में पदार्थों के नामवाचक शब्द लिखिये। बालक शब्द पढ़ते जायेंगे। थोड़ी ही देर में हमारे सामने पदार्थों का ढेर लग जायगा। जैसा पढ़ते हैं, तदनुसार भाँति-भाँति के पदार्थ लाने में बालकों को मजा आएगा। इस कार्य में उन्हें आने-जाने, लाने-रखने के रूप में शारीरिक व्यायाम भी मिलेगा, जिससे उनमें खेल का-सा उत्साह और स्फूर्ति बनी रहेगी। वे इसे एक खेल ही समझेंगे और बार-बार वैसा करना चाहेंगे।

शिक्षक को पहले ही से अपने पास ऐसे पदार्थों की सूची तैयार रखनी चाहिये, जो झटपट लाये जा सकें। एक साथ कई छात्रों को यह खेल खेलाना हो, तो खेलाने वाला शिक्षक काले तख्ते पर एक के बाद एक शब्द लिखता जाये और कतार में बैठे हुए बालक क्रम से पढ़कर तदनुसार क्रिया करते जायें।

विद्यार्थी आपस में भी यह खेल खेल सकते हैं। एक विद्यार्थी तख्ते पर या पट्टी पर शब्द लिखता जाये और दूसरा तदनुसार पदार्थ लाता जाये। दो-दो, तीन-तीन विद्यार्थी एक साथ भी यह खेल खेल सकते हैं। व्यक्तिशः बालक को चिट्ठियाँ देकर भी यह खेल खेला जा सकता है।

जब इस प्रकार कक्षा में शब्द-वाचन का खेल हो रहा होगा, तो बालक आतुर भाव से तख्ते पर लिखे शब्दों को पढ़ते, मन में उनके अर्थ का विचार

करते और मन में अर्थ के स्फुरित होते ही उस चीज़ की खोज में भटकते पाये जायेंगे। ज्ञान के विकास के साथ क्रिया का काम भी चालू रहने से सारी कक्षा का दृश्य किसी आनन्द-मग्न मधुमक्खी के छत्ते की तरह दिखाई देगा। सब अपने-अपने काम में लगे रहने के कारण चीज़ें लाने-ले जाने में जो एक प्रकार की अनिवार्य गड़बड़-सी मचेगी और क्रिया के लिए जो हलन-चलन होता होगा, उसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की अव्यवस्था का वहाँ नाम भी न रहेगा। और एक प्रकार से यही तो सच्ची व्यवस्था है।

बालक सचमुच समझकर पढ़ता है या नहीं, इसकी परीक्षा अपने आप ही हो जाती है। क्योंकि जो बालक पढ़ नहीं सकता, वह न पदार्थ ला सकेगा, न क्रिया कर सकेगा। इसमें बालकों को खेल का-सा आनन्द आने के कारण वे पढ़ने में थकावट का अनुभव किये बिना ही बहुत-कुछ पढ़ डालेंगे और चिट्ठी-वाचन का प्रचुर पुनरावर्त्तन चालू रहने से वे बिना प्रयत्न के अपनी वाचन-शक्ति बढ़ा सकेंगे।

पदार्थों के नामवाचक शब्दों का खेल समाप्त होने पर क्रिया-वाचक शब्दों का खेल शुरू करना चाहिये। यह खेल कई तरह से खेलाया जा सकता है। एक रीति यह है :—

शिक्षक पहले ही से कक्षा के विद्यार्थियों को नम्बर दे रक्खे। इसके बाद नम्बर के क्रम से तख्ते पर क्रियावाचक शब्द या वाक्य लिखवाता चला जाय, या समय की बचत के खयाल से पहले ही तख्ते पर शब्द लिख रक्खे हों, तो तख्ते को विद्यार्थियों के सामने खुला छोड़ दे और उन्हें समझा दे कि वे अपने-अपने नम्बर के अनुसार तख्ते पर अपनी चिट्ठी पढ़ लें।

बालक पढ़-पढ़कर वैसी क्रिया करेंगे और बहुत खुश होंगे। तख्ते पर लिखे हुए वाक्यों का खेल एक बार खेला जा चुकने पर शिक्षक विद्यार्थियों के नम्बर बदल दे और वही खेल फिर से शुरू कराए। इस रीति से जितने विद्यार्थी होंगे उतनी बार खेल खेला जायेगा और उतने वाक्य हर एक को पढ़ने को मिलेंगे। पहले ही से तख्ते पर वाक्य लिख रखने वाला शिक्षक आध घण्टे में सारी कक्षा से, खेल ही खेल में, और अर्थ सहित, दो-तीन पाठों की वस्तु सरलता से पढ़वा लेगा।



शिक्षक को ऐसी क्रियायें खोज कर रखनी चाहिये, जिनसे विद्यार्थियों को मज़ा आए। जैसे, खड़े हो जाओ, बैठ जाओ, कान पकड़ो, हँसो, कूदो, नाचो, गुलाँट खाओ, कुश्ती खेलो, सब को पानी पिलाओ, पैर पछाड़ो, लेटो, पैर फैलाकर सोओ, इत्यादि।

शनैः-शनैः शिक्षक चिट्ठी के वाक्यों की लम्बाई बढ़ाता जाए। व्याकरण की दृष्टि से वाक्यों का विस्तार करते जाने में दूसरे अप्रत्यक्ष लाभों के साथ बालक का ध्यान वाक्य-रचना, शब्द-शक्ति, शब्द-सम्बन्ध आदि की ओर आकर्षित होगा। आरम्भ में बालक पदार्थ-सूचक नाम पढ़कर क्रिया-पद को पहचानता है। आगे चलकर जब उसे 'लाल कागज', 'काली पेन्सिल', 'चौकोर मेज' 'गोल रकाबी', वगैरा चीज़ें लानी पड़ती हैं, तब कागज, पेन्सिल, मेज, रकाबी आदि पदार्थों के गुण की छाप उसके मन पर पड़ती है। फिर 'धीरे दौड़ो' 'ज़ोर से दौड़ो', 'खिलखिलाकर हँसो', 'ठीक बैठो', आदि वाक्य पढ़कर जब बालक तदनुसार क्रिया करता है, तो अव्यय और क्रियाविशेषण की शक्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार धीरे-धीरे व्याकरण की दृष्टि से क्रमिक चिट्ठियों के वाचन द्वारा बालक भाववाचक शब्दों के अर्थ का भी अनुभव करता है। साथ ही, समग्र वाचन के साथ क्रिया करते रहने से भाषा में विद्यमान व्याकरण की शक्ति का भी उसे स्पष्ट या अस्पष्ट अनुभव होता रहता है।

चुने हुए शब्द और चिट्ठियों की क्रमिक सजावट आदि सामग्री शिक्षक के पास तैयार रहनी चाहिये। भविष्य में विद्यार्थियों के वाचन के लिए शिक्षक इन चिट्ठियों को वाचन-पोथी के रूप में तैयार कर ले। पढ़ी हुई चिट्ठियाँ और वैसी ही नई चिट्ठियां अलग-अलग कतरनों पर लिख ले और उनसे खेलने के लिए एक नया खेल बना ले। दस-दस या बीस-बीस कतरनों के कुछ जत्थों को विद्यार्थियों के सामने रखकर शिक्षक उनसे कह सकता है कि तुम अपने आप इन चिट्ठियों को पढ़ो और वैसी क्रिया करो। अथवा वह एक बक्स में बहुतेरी चिट्ठियाँ डाल दे और विद्यार्थियों को उसमें से एक-एक चिट्ठी लेकर पढ़ने और वैसी क्रिया करने को कहे। यहाँ शिक्षक को यह देखने को मिलेगा कि चिट्ठी-वाचन का काम किस प्रकार स्वतः होता रहता है। खेल

समाप्त होने पर, या चालू खेल में भी, वह देख सकेगा कि कौनसी चिट्ठियाँ बालक बार-बार और दिलचस्पी के साथ पढ़ते हैं और किन चिट्ठियों के पढ़ने में उन्हें मज़ा नहीं आता।

चिट्ठी-वाचन द्वारा शिक्षक विद्यार्थियों की वाचन-शक्ति की योग्यता, भिन्न-भिन्न क्रिया-सम्बन्धी उनकी रुचि-अरुचि और इन पर से प्रकट होने वाली उनकी वृत्ति जान सकेगा। फलतः वह शिक्षण में बालक की अधिक सहायता कर सकेगा।

दो अक्षरों के शब्दों से लेकर बीस-बीस अक्षर के शब्दों की चिट्ठियाँ बनाई जा सकती हैं। बालक का शरीर, आसपास की परिस्थिति, उसका ज्ञान, शाला, घर, कुदरत, खुराक, पोशाक, गहने, आदि विषयों पर अनेकानेक चिट्ठियाँ लिखकर चिट्ठी-वाचन के विषय को विशाल बाल-दुनिया का एक बाल-प्रिय विषय बनाया जा सकता है।

विशेषतः आरम्भिक चिट्ठी-वाचन में मूक वाचन की आवश्यकता है। शिक्षक को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये कि बालक ज़ोर से न पढ़े; मन में पढ़े और समझने का प्रयत्न करे। आरम्भ में मौखिक वाचन समझकर पढ़ने में विघ्नरूप होता है। मौखिक वाचन में शुद्ध उच्चारण का अभ्यास भी साथ ही साथ करना पड़ता है, जिससे समझने के काम के साथ ज़ोर से पढ़ने का एक दूसरा काम बढ़ जाता है, अतएव मौखिक वाचन बाद में शुरू करना चाहिये।

अपनी क्रिया द्वारा बालक बता सकता है कि वह पढ़े हुए को समझता है। एक विशेष परीक्षा के रूप में और मुख वाचन की तैयारी के लिए, जब बालक चिट्ठी पढ़कर क्रिया कर चुके, तो उससे वह चिट्ठी जोर से पढ़वानी चाहिये। पहले चिट्ठी को समझकर क्रिया कर लेने के कारण समझ कर पढ़ने में, ज़ोर से पढ़ने में, सरलता होगी। क्योंकि इस समय बालक को समझने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, पर समझने का आनन्द ले-लेकर पढ़ना होता है। साथ ही, इस समय बालक वाचन पर उचित भार दे सकेगा और भाव-पूर्वक पढ़ सकेगा। जिस भाव को वह एक बार क्रिया में उतार चुका है, उसे अब वाणी द्वारा व्यक्त करना कठिन नहीं होगा।



चिट्ठी-वाचन की तुलना में पाठमाला की पुस्तकों का वाचन बालकों को नीरस लगेगा। शुरू की दो-तीन कक्षाओं में 'रीडरें' पढ़ाने के बदले चिट्ठी-वाचन से काम लेना ही अच्छा है। निःसन्देह चिट्ठी-वाचन के वर्षों में बालकों के सामने बाल-वाचन की सामग्री बाल-पुस्तकालय के रूप में आ जाय, तो अवकाश के समय में बालक चिट्ठी-वाचन द्वारा उपार्जित वाचन-शक्ति का उसमें उपयोग करेंगे और पुस्तक-वाचन के मार्ग पर चलने लगेंगे। चिट्ठी पढ़ते-पढ़ते बालक अपने आप ही पढ़ने के शौक़ीन बनेंगे। फिर तो वे चिट्ठियों को छोड़कर सीधे पुस्तकों पर ही टूट पड़ेंगे और एक-दो नहीं, बल्कि असंख्य पुस्तकें पढ़ डालेंगे। इस प्रकार आज हमें पुस्तकें पढ़ाने, वस्तु समझाने, आदि में जो परेशानी उठानी पड़ती है, वह बहुत कम हो जायगी।

## ५

## शब्द-पोथी

कुछ मूलाक्षर सीखने के बाद और चल मूलाक्षर जान चुकने पर, बालक शब्द-वाचन की ओर प्रवृत्त होता है, और बारहखड़ी का ज्ञान मिलने पर उसकी शब्द-वाचन की शक्ति में वृद्धि होती है। साथ ही, उसका वाचन-प्रदेश विस्तृत बनता है। इस समय चाचा, दादा, बहन, घी, तेल, कौआ, चिड़िया, मोर, तोता, मैना, हाथ, पैर, आदि असंख्य शब्द बालक के वाचन का विषय बन जाते हैं। ठीक इसी समय उसके अन्दर शब्द-वाचन की जबर-दस्त भूख जागती है। बालक शब्दों की तलाश में रहता है। 'बाल-कथा-कहानी,' 'वानर', 'शिशु,' 'कुमार,' 'चमचम,' व 'नवजीवन,' 'आज' आदि शब्दों को घर में या पाठशाला में पड़ी हुई पुस्तकों या अखबारों में से पढ़ने को दौड़ता है। शहर में जाता है, तो दूकानों के साइन-बोर्ड पढ़ने को खड़ा रह जाता है। रास्ते में उड़ने वाले काग़ज के पुर्जों को उठाकर उनमें से भी दो-चार शब्द पढ़ने की चेष्टा करता है। कभी-कभी बालक ऐसी पुस्तकें भी पढ़ते पाये जाते हैं, जो उनकी समझ में बिलकुल ही नहीं आ सकतीं। कारण

यह है कि वे वहाँ भी शब्दों की ही तलाश में रहते हैं। बालक उन्हीं-उन्हीं शब्दों को और असंख्य नये शब्दों को पढ़ता ही रहता है। जिन्हें अनुभव है, वे कह सकते हैं कि जब बालकों में शब्द-वाचन की यह ऋतु आती है, तब खेलने, चित्र बनाने या नाश्ता करने की अपेक्षा पढ़ना ही उन्हें ज़्यादा पसन्द होता है। अगर उन्हें मनचाहे शब्द मिले जाएं, तो वे थोड़ी देर के लिए भी पढ़ना नहीं छोड़ते। उस समय की उनकी वह गंभीरता, स्थिरता और एकाग्रता वाचनालय में बैठे हुए किसी भी वयस्क आदमी की तरह मालूम होगी, और उनके मुख की शान्ति और प्रसन्नता हमें चकित कर छोड़ेगी।

बालक में इस शब्द-ऋतु की बहार आने पर यदि हम उसे शब्द वाचन की उचित सामग्री दें, तो वह अधिकाधिक उत्साह के साथ और अधिक देर तक पढ़ता रहेगा। उसमें वाचन की रुचि अधिकता से पैदा होगी। उनकी वाचन-सम्बन्धी भूख अधिक अच्छी तरह तृप्त होगी।

ऐसी वाचन-सामग्री में शब्द-पोथियाँ मुख्य हैं। इन शब्द-पोथियों का हस्त-लिखित होना अच्छा है। छोटे बालकों को छपे हुए या लिखे हुए छोटे-छोटे अक्षर पढ़ने में असुविधा होती है। पढ़ना वे पसन्द भी नहीं करते। बड़े बड़े टाइपों में छपी हुई शब्दा-पोथी में एक देशीयता आ जाती है स्थल-काल को प्रतिबिम्बित करके वाचन को सजीव और फलतः सरस बनाने वाले शब्द उसमें नहीं मिलते। शब्दों का अर्थ बताने को नहीं, किन्तु पोथी के पन्नों को सुन्दर बनाने के लिए, हर पन्ने पर बेल, पत्तियाँ या आकृतियाँ बनाई जाएं, तो उससे पढ़ने वाले को विराम का आनन्द मिलेगा और यह उसके लिए आवश्यक भी है। छपी हुई पोथियों को इस तरह सजाने पर वे महँगी हो जाती हैं। इसलिए प्रत्येक शाला के शिक्षकों को शब्द और शब्द-पोथियाँ स्वयं ही बना लेनी चाहिये। विद्यार्थी खुशी-खुशी उस पोथी की नकल करेंगे और अपने लिए नई पोथियाँ बना लेंगे। इससे बालकों को लिखने, पढ़ने और पोथी बनाना सीखने का मौक़ा मिलेगा। पोथी की जिल्द आड़ी रखने से पन्ने पलटने में सरलता होगी। आरम्भ के अक्षर दोहरी रेखाओं से लिखे जाएं तो बालकों को पढ़ने में आनन्द के साथ आसानी होगी। शब्दों को सजाने या



उनके साथ उनके चित्र देने की आवश्यकता नहीं। दूसरे शब्दों में, पोथी को सचित्र बनाना बिलकुल आवश्यक नहीं। शब्द-पोथी बालकों को वाचन सिखाने या उन्हें वाचन की ओर प्रवृत्त करने के लिए नहीं है; बल्कि उन बालकों के लिए है, जो पढ़ने लगे हैं और सदा शब्दों की तलाश में रहते हैं। ऐसे समय शब्द-पोथी ही इष्ट वस्तु होती है, इसलिए उसे रूप-रंग से सिंगारने या आकर्षक बनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

शब्द-पोथी के शब्द ऐसे चुनने चाहिये, जो बालक के रात-दिन के अनुभव के हों और उसके निकट के हों। बालक के अपने शरीर के अंग-उपांगों के नाम पोथी के लिए एक मजे की चीज है। बालकों को इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, स्पर्श आदि) से जो दीखता है, जो सुनाई पड़ता है, जिनकी गन्ध आती है, जिनका स्पर्श होता है, वैसे शब्द भी शब्द-पोथी में आने चाहिये। साथ ही, घर में बरती जाने वाली और ख़ासकर रात-दिन के व्यवहार की चीज़ों के नाम और माँ, बाबू चाचा, मामा, दादा, भाभी वग़ैरा सदा बोले जाने वाले सम्बन्ध-सूचक शब्द भी शब्द पोथी में रखने चाहिये। घर के बाहर की विशाल दुनिया का जितना अनुभव बालक को हुआ हो, उसके अनुसार वैसे शब्द भी चुने जा सकते हैं। बालकों के खेल-कूद के जीवन के शब्द, मित्रों और मित्रता-सम्बन्धी शब्द, यदि छोटी-मोटी यात्रायें की हों, तो उनसे सम्बन्धित शब्द, और पाठशाला के जीवन के शब्द, शब्द-पोथी में स्थान पा सकते हैं।

इस विधि से बालकों को मनचाहे शब्दों के साथ विविधता का भी लाभ होगा। साथ ही, जिन अनुभवों को बालक प्राप्त करने ही वाला है, जो दुनिया उसकी आँखों के सामने अधिकाधिक प्रकट होती जा रही है और होने वाली है, उससे सम्बन्ध रखने वाले शब्द भी इस पोथी में हों। एक और अनुभव के शब्द मिलने से और दूसरी ओर जाने हुए शब्दों का अनुभव होने से बालकों का आनन्द और ज्ञान बढ़ेगा।

ऐसी पाँच-सात पोथियों का अन्य पुस्तकों के साथ एक नन्हा-सा वाचनालय भी कायम किया जा सकता है। शब्द-पोथी द्वारा बालक को इतर वाचन के मार्ग पर और वाचनालय की दहलीज पर ले जाया जा सकता

है। बालक वहाँ समूह में बैठकर वाचनालय की सभ्यता के नियम सीखेंगे और अधिक सफ़ाई के साथ पुस्तकों का व्यवहार करना भी सीखेंगे।

वाचन के मार्ग पर चलने वाले बालक के लिए शब्द-वाचन एक आवश्यकता है। इसकी पूर्ति करना हमारा कर्त्तव्य है, और इसकी एक दिशा ऊपर बताई जा चुकी है।

## ६

## संयुक्ताक्षरों का शिक्षण

जुड़वाँ अक्षर सीखे बिना वाचन का प्रवेश बिलकुल संकुचित, या नहीं के बराबर ही रहता है। जुड़वाँ अक्षरों के बिना कहानियाँ लिखने का प्रयत्न पूरी तरह सफल नहीं हो पाता। उससे भाषा में बनावटीपन आता है। वस्तु की भी खींचातानी करनी पड़ती है। वस्तुतः वर्णमाला और बारहखड़ी का परिचय कराने के बाद शीघ्र ही, सबसे पहले, जुड़वाँ अक्षर सिखाने चाहिए। मूलाक्षर में अक्षर-परिचय का जैसा शिक्षण है, संयुक्ताक्षर में वैसा ही अक्षर-संयोग का शिक्षण है। चूँकि बालक बातचीत करने लग चुका है, इसलिए उसमें ध्वनि-उच्चारण की शक्ति तो साधारणः होती ही है।

जुड़वाँ अक्षर सिखाने की अत्यन्त प्राचीन रीति (अंग्रेजी में 'स्पेलिंग' रटने की तरह) आजकल की पाठशालाओं में नहीं पाई जाती। उसके बदले बहुतेरी पाठशालाओं में प्रथम जुड़वाँ अक्षर के शब्द का मुँह से उच्चार कराया जाता है, फिर वह, यानी संयुक्त उच्चार, तख्ते पर किस तरह लिखा जा सकता है, सो बताया जाता है और इस प्रकार संयुक्ताक्षर सिखाये जाते हैं। बहुतों का अनुभव यह है कि हिज्जे और संयुक्ताक्षर पढ़कर, अर्थात् आँख से देखकर याद हो जाते हैं। जिनकी आँख अधिक क्रियाशील होती है, उनके लिए यह सच भी है। आज बालक दूसरी इन्द्रियों की तालीम के अभाव में आँख ही का अधिक व्यवहार करते हैं। बाल-मंदिर के बालकों को भी जुड़वाँ अक्षर आँखों से दिखाकर सिखाना आसान और दिलचस्प मालूम हुआ है। किये हुए प्रयोगों की दिशा निम्नलिखित है :

सारी भाषा में पाये जाने वाले संयुक्ताक्षरों को हम कुछ वर्गों में बांट सकते हैं। जैसे, **रेफ-वर्ग**—अर्थात् गर्व, मर्म, अधर्म अकर्मक, अर्भक, आदि शब्द; **ह्म-वर्ग**, अर्थात् ब्राह्मण, ब्रह्म आदि शब्द; **हलन्त-वर्ग**–अर्थात् विद्वान्, वृहत्, आदि शब्द। इसी प्रकार **द्य-वर्ग**, **क्य-वर्ग**, **ह्य-वर्ग**, आदि वर्ग बनाये जा सकते हैं।

प्रत्येक वर्ग प्रतिनिधि-रूप दस-दस शब्द लेकर उन्हें काग़ज़ के 2" × 2" के कार्डबोर्ड पर लिखिये। इस तरह प्रत्येक वर्ग के दस-दस पत्तों का एक-एक सेट्—ताशकी तरह—बन जायगा। इन 'सेटों' को एक-दूसरे से अलग रखने और इनका चढ़ने-उतरने वाला क्रम बताने के लिए इन्हेंअलग-अलग पेटियों में रखना चाहिये। अथवा हर सेट् के पत्तों की पीठ का रंग भिन्न-भिन्न रखना चाहिये और उस पर नम्बर लिख देने चाहिये।

जिसे जुड़वाँ अक्षर सिखाने हों, उसे पहले नम्बर के सेट् में से दो सादे जुड़वाँ अक्षर लेकर सेगुइन के तीन क्रमों के अनुसार दो शब्द सिखाने चाहिये। इस सेट् के शब्द एक ही वर्ग के होने के कारण दो शब्द सीखने के बाद दूसरे सब शब्द सरलता से याद हो जायँगे। उसके बाद दूसरा वर्ग लेना चाहिए और इस तरह आगे बढ़ना चाहिये। यह रीति व्यक्तिगत बालक के लिए हुई। जहाँ सारी कक्षा को एक साथ सिखाना हो, वहाँ सेट् के दो शब्द सारी कक्षा के सामने रखकर सेगुइन के क्रम से अलग-अलग विद्यार्थियों को प्रश्न पूछिये और सिखाइये। जब एक सेट् याद हो जाए, तो उसे दो या दो से अधिक बालकों को खेलने के लिए दे दीजिए। समूहगत कार्य करने वाली कक्षाओं में भी दो-चार होशियार विद्यार्थियों को शब्द सिखा देने के बाद उन्हें दूसरों के साथ ताश की तरह पत्तों से खेलने दीजिये। इस खेल के द्वारा कुछ बालक तो स्वयं खेलकर और कुछ खेल देखकर जुड़वाँ अक्षर पढ़ने लगेंगे।

बालक जुड़वाँ अक्षर का खेल इस प्रकार खेलें : प्रथम सेट् के पत्तों को पीस कर बाँट लें। फिर हर एक बालक अपने हाथ का एक-एक पत्ता चले, फिर हर एक उसे पढ़ता जाय और उठाता जाय। जो पढ़ न सके, वह उठा भी न सके। इस प्रकार जब चले हुए सब पत्ते हाथ में आ जायँ, तो फिर बंटा जाय।

खेल में हार- जीत के तत्त्व को घुसने नहीं देना चाहिये। कोई भी विद्यार्थी पढ़ा हुआ पत्ता अपने पास न रक्खे। सब के पढ़े हुए पत्तों का एक ढेर पास में होता रहे। जब हाथ के सब पत्ते खतम हो जायँ, तो ढेर के पत्ते बाँटे जायँ। जब जीत को इस प्रकार समूहगत मान लिया जायगा, तो उसमें स्पर्द्धा आदि तत्त्व नहीं रहेंगे, और न चालाकी और लुचपन की गुंजाइश ही रह पायेगी। साथ ही, खेलने-वालों को अपनी शक्ति के व्यायाम का आनन्द भी प्राप्त होगा।

जिनको शब्द याद न होंगे, उनको सुनकर सीखने का अवसर मिलेगा। उनका ध्यान हारने-जीतने की ओर न रहकर अपरिचित शब्द को सीखने की ओर रहेगा। जब सब को सब शब्द पढ़ना आ जायगा, तब उच्चारण और त्वरित वाचन के अभ्यास के रूप में यह खेल बड़ी देर तक चलता रहेगा। पत्ते चलने के बदले शब्दों का जत्था बीच में रखकर भी खेल सकते हैं। हर एक बालक इस ढेर में एक-एक शब्द पढ़कर लेता जाय और पास ही दूसरा ढेर बनाता जाय। इस प्रकार बालक जुड़वाँ अक्षर का खेल कई दिनों तक खेलते हैं। जिन बालकों को कुछ भी सिखाया नहीं जाता, वे भी खेल देख-देखकर पढ़ना सीख जाते हैं। धीरे-धीरे जुड़वाँ अक्षरों के सब वर्गों का खेल खेल चुकने पर बालकों की जुड़वाँ अक्षर पढ़ने की शक्ति खूब बढ़ जाती है।

जो जुड़वाँ अक्षर अच्छी तरह पढ़ सकते हैं, उन्होंने संयुक्ताक्षरों के एक और खेल का आविष्कार कर डाला है। बालक बीच में पड़े हुए ढेर में से एक-एक शब्द उठाते हैं और उठाये हुए संयुक्त शब्द को पढ़कर वाक्य बोलते हैं। एक प्रकार से वे वाक्य-रचना करके मौखिक निबन्ध लिखते हैं। कुछ बड़े बालकों को इस खेल में बहुत मजा आता है। इस खेल से उनके भाषा-ज्ञान की विकसित शक्ति की सुन्दर परीक्षा भी हो जाती है।

जुड़वाँ अक्षरों से खेलने वाले के सम्मुख संयुक्ताक्षर का वाचन यथा-समय आना चाहिये। तरह-तरह की संयुक्ताक्षर-पोथियाँ बनाकर पढ़ने को दी जा सकती हैं। ये पोथियाँ बाल-पुस्तकालय की अच्छी वृद्धि कर सकती हैं। ठीक इसी समय यदि संयुक्ताक्षर की चिट्ठियों का वाचन भी शुरू हो, तो जुड़वाँ अक्षर का ज्ञान सब तरह सार्थक और पक्का बन जाय। बाद में तो बालक चाहे-जैसे जुड़वाँ अक्षर वाली वस्तु पढ़ सकेगा।

जुड़वाँ अक्षरों का वाचन आ जाने के बाद बालक को उनका लेखन इस प्रकार सिखाना चाहिये :

पाँच संयुक्त शब्द लेकर बालक के सम्मुख रखिये और उससे कहिये कि वह उन्हें आँख से देखकर हवा में अँगुली घुमाते हुए दूर से घोटे। हिज्जे बालक के ध्यान में रह जायेंगे। फिर शब्द लिखवाइये। जिनमें भूल रहे उन शब्दों को पुनः घोटने को कहिये। फिर शब्द लिखवाइये। इस तरह लिखना आ जायगा।

जब जुड़वाँ अक्षरों के खेल चल रहे हों, तो समय-समय पर बालकों की मण्डली में मिलकर शिक्षक स्वयं उन्हें खेल खेलाकर दिखा दे और सबसे कह रक्खे कि जिस शब्द का उच्चारण न आए, वह शब्द उससे पूछा जाय।

इस रीति से बालक बड़े उत्साह के साथ, अल्प परिश्रम में, ढेरों जुड़वाँ अक्षर सीख जायेंगे।

## ७
## आदर्श-वाचन

वाचन एक कला है और व्यवहार भी है। सुन्दर वाचन में जो मिठास है, वह कला का रूप है। समझकर पढ़ने से व्यवहार सिद्ध होता है, पर कला-पूर्ण वाचन से आनन्द आता है। आनन्द कला का अंग है। व्यवहार के साथ कला को जोड़ देने से व्यवहार की जड़ता कम होती और सह्य बनती है। जीवन में कला का यही कार्य है। अतएव विद्यार्थी में सुन्दर वाचन की शक्ति का होना आवश्यक है। वाचन को अच्छा बनाने के लिए आजकल की शालाओं में विद्यार्थियों से सदा पढ़वाया जाता है। विद्यार्थी घर से पढ़ कर

लाते हैं, अर्थात् वे अपनी रीडर का कोई पाठ पढ़-कर आते हैं। कक्षा में अच्छी तरह पढ़ सकने के लिए वे दिये हुए पाठ को बार-बार पढ़ते हैं। इस तरह पढ़ते-पढ़ते बहुधा पाठ मुखाग्र हो जाता है। अच्छा वाचन कराने की यह रीति दूषित है। इसके परिणाम इस बात के साक्षी हैं। पढ़े हुए पाठों के सिवाय दूसरे पाठ या दूसरी पुस्तक जब विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए दी जाती है, तो वे कहते हैं कि यह तो अभी पढ़ी ही नहीं। तिस पर भी यदि कोई नई चीज़ उनसे पढ़ाते हैं, तो वे उसे अच्छी तरह पढ़ नहीं पाते। यही नहीं, बल्कि पढ़े हुए पाठ की तुलना में नये पाठ का वाचन बहुत ही कमज़ोर मालूम होता है। दूसरे, वाचन-शिक्षण पहली पुस्तक से ही शुरू कर दिया जाता है और फिर भी पाँचवीं पुस्तक में वाचन-शिक्षण का प्रश्न उपस्थित रहता है। केवल यही नहीं, बल्कि इस कक्षा के विद्यार्थियों के वाचन में भी वे ही पुराने और भाँति-भाँति के दोष पाये जाते हैं। वाचन-शिक्षण की इस माथापच्ची से निकल कर जीवन में प्रवेश करने वाले अधिकांश विद्यार्थी वाचन-शिक्षण की निष्फलता का ही परिचय कराते हैं। इसके अतिरिक्त, इस तरह की वाचन-शिक्षण-पद्धति से वाचन खराब होता है। इस दोष के अलावा, सबसे बड़ा दोष यह है कि बहुधा इस रीति के कारण वाचन से मन हट जाता है। वाचन को अच्छा बनाने के लिए उसकी उत्तम रीति विद्यार्थियों के मन पर भली भाँति ठँसा देनी चाहिये। उत्तम वाचन की दृढ़ छाप शनैः शनैः विद्यार्थियों में उत्तम रीति से पढ़ने की शक्ति और रुचि को बढ़ाती है। अतएव विद्यार्थी से बार-बार पढ़वाने की अपेक्षा उसके कानों को उत्तम वाचन द्वारा प्रभावित करना चाहिये। प्रत्येक विद्यार्थी सुनकर संस्कार ग्रहण करेगा। ये संस्कार धीरे-धीरे परिपक्व होंगे, हज़म होंगे और यथासमय विद्यार्थी के अपने बन जायेंगे। अन्त में वह अपने आप ही सुन्दर पढ़ने लगेगा। ऐसे संस्कार उत्पन्न करने वाला वाचन आदर्श वाचन कहलाता है। यह वाचन कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में नीचे कुछ लिखा जाता है :

आदर्श-वाचन में शिक्षक नीचे लिखी चार बातों पर विशेष रूप से ध्यान दे : वाचन का चुनाव, वाचन की अनुकूलता, वाचन की योग्यता और वाचन का विवेक।



### वाचन का चुनाव

पाठ्यवस्तु के चुनाव में वस्तु और भाषा दोनों का विचार करना चाहिये। बालकों की उम्र और शक्ति दोनों का ख़याल रखकर यह चुनाव किया जाना चाहिये।

यहाँ वाचन मुख्य उद्देश्य है, इसलिए वस्तु का महत्त्व गौण समझना चाहिये। फिर भी वस्तु इतनी अधिक नीरस नहीं होनी चाहिये कि उसके कारण बालक अच्छी से अच्छी पाठ्यवस्तु का भी त्याग कर दें। इसी तरह वस्तु इतनी अधिक सरस भी नहीं होनी चाहिये कि जिससे बालक वस्तु की सरलता में डूब कर उसकी देह ही को भूल जायें।

याद रहे कि यहाँ वस्तु साधन है और आदर्श-वाचन साध्य है। इस कार्य के लिए आदर्श-वाचन को और वस्तु के ज्ञान या बोध को भिन्न समझना चाहिये। इसीलिए यहाँ वह वस्तु त्याज्य है, जिसे समझाना पड़े या समझाने के लिए प्रश्नोत्तर करने पड़ें। अर्थात्, आदर्श-वाचन के साथ वस्तु के शिक्षण को सम्मिलित नहीं करना चाहिये; बल्कि उसका तो विचार तक नहीं करना चाहिये।

बालकों की कक्षा और भाषा के गुण की दृष्टि से भाषा का चुनाव करना चाहिये। बालकों की कक्षा या योग्यता जानने के लिए तो उनके प्रत्यक्ष परिचय में आना ही एकमात्र उपाय है। इसमें कल्पित कक्षा व्यर्थ है। गुण की दृष्टि से भाषा बलवती, मिताहारी, सरल, प्रवाही, शान्त, उछलती-कूदती, ताल-बद्ध, संगीतमय, काव्यमय, स्वरानुकूल, कर्णप्रिय, भावपूर्ण और आकर्षक होनी चाहिये। ऐसी भाषा वाले पाठों की तलाश करनी चाहिये। ऐसे न मिलें तो उनका संशोधन करना चाहिये, या नये लिखने चाहिये। भाषा का दूषित चुनाव आदर्श-वाचन को व्यर्थ बना देता है। बालक में जितना पढ़ने की शक्ति हो, विशेषकर उससे कुछ सरल वाचन ही उसके लिए पसन्द करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि तीसरी कक्षा के छात्रों को आदर्श-वाचन सुनाना हो, तो उनके लिए पहली पुस्तक की समकक्ष पुस्तक पसन्द करनी चाहिये। एक तरह से यह विचार ऊपर आ ही चुका है।

### वाचन की अनुकूलता

पाठ्यवस्तु के चुनाव के बाद विद्यार्थियों को आदर्श-वाचन के लिए एकाग्र करना आवश्यक है। विद्यार्थियों को एकाग्र बनाने के लिए वातावरण की प्रतिकूलता को दूर करना चाहिये। प्रबन्ध सुन्दर और समुचित होना चाहिये। ऐसी कोई वस्तु समीप नहीं होनी चाहिये, जिससे विद्यार्थी सहज ही व्यग्र बनें। अनावश्यक प्रेक्षकों या विद्यार्थियों को पहले ही से विदा कर देना चाहिये। यथासम्भव अधिक से अधिक शान्ति स्थापित करनी चाहिये। इसके लिए शान्ति का खेल या शान्ति का अभ्यास उपयोगी हो सकता है। संक्षेप में, आदर्श-वाचन श्रवण का विषय है, इसलिए वाचन के स्थान पर (आसपास से, विद्यार्थियों की ओर से, या शिक्षक की ओर से) गड़बड़, कोलाहल या अशान्ति न रहने देनी चाहिये। अन्त में स्नेह भाव से विद्यार्थियों को अभिमुख करके आदर्श वाचन की सारी अनुकूलता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

### वाचन की योग्यता

शिक्षकों को स्वयं अच्छी तरह पढ़ना आना चाहिये। इसके कोई नियम नहीं दिये जा सकते। वास्तव में आदर्श वाचन में शिक्षक की स्वाभाविक रसिकता ही मुख्य वस्तु है। फिर भी शिक्षक को वाचन के साधारण दोषों से तो मुक्त होना ही चाहिये। जैसे, बहुत तेजी से पढ़ना, अत्यन्त धीमे-धीमे पढ़ना, तुतला कर या हकला कर पढ़ना, एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द पढ़ना आदि। लेकिन इनके अतिरिक्त भी शिक्षक के वाचन में ध्वनि, कण्ठ, छटा, ताल, उचित गति, स्वाभाविकता, संयम और भाव की अपेक्षा रहती है। ध्वनि-संयम का अर्थ कोमल स्वर नहीं है। वस्तु के भाव को भाषा में लाने के लिए ध्वनि का चढ़ाव-उतार के क्षेत्र में संचार होना चाहिये। यह सीखने से नहीं आता। इसकी कुंजी वस्तु को भाव-पूर्वक समझने में है। वस्तु के भावों में शिक्षक के ओत-प्रोत होने से ही छापे में छपी हुई भावनायें कण्ठ में झनझना सकती हैं।

भावावेष्टित शिक्षक के वाचन में सुर, ताल, हाव-भाव, उचित गति, आदि वस्तुएँ स्वतः आविर्भूत होती हैं। फिर भी अभ्यास द्वारा इन वस्तुओं को न्यूनाधिक मात्रा में साधा जा सकता है। परिश्रमी शिक्षक इन्हें बुद्धि द्वारा ग्रहण करे। प्रत्यक्ष देख-सुनकर उसे यह समझने की चेष्टा करनी चाहिये कि स्वर, हावभाव, आदि क्या हैं। इनका ज्ञान पुस्तक में नहीं है, अनुभव में है। कवियों या लेखकों को अपनी कृतियाँ पढ़ते हुए देखने-सुनने से बहुत लाभ होता है। जिसके हृदय में से वस्तु के साथ वस्तु के स्थूल भाव का भी अवतरण हुआ है, उसे पढ़ते समय देखने से दोनों वस्तुयें यथार्थ समझ में आ सकती हैं। कवि या लेखक बहुधा अपनी रचनायें जनता के सम्मुख पढ़ा करते हैं, और वह दर्शनीय होता है। पाठ या लेख का मध्यवर्ती विचार समझने से, वस्तु के विकास-क्रम को जान लेने से, और शब्दों के उपयोग के मूल में स्थित लेखक के हेतु को पहचान लेने से आदर्श वाचन को सफल बनाने वाली छोटी-मोटी अनेक विशेषतायें ध्यान में आ जाती हैं।

### वाचन-विवेक

वाचन के विवेक का प्रश्न व्यवहार का प्रश्न है। जिनके सम्मुख आदर्श-वाचन करना हो, उनकी शक्ति को ध्यान में रखकर समय का निर्णय और वस्तु का चुनाव करना चाहिये। आदर्श श्रवण जब एक आनन्द का विषय बन जाता है, तभी उसकी छाप विद्यार्थियों पर पड़ती है। लेकिन यदि किसी भी कारण से वह विद्यार्थियों में उकताहट पैदा करे, तो प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। इस दिशा में शिक्षक को स्वयं अनुभव से काम लेना चाहिये।

आदर्श-वाचन सुन्दर वाचन का एक उत्तम साधन है। इसका यह अर्थ नहीं कि विद्यार्थी स्वयं कुछ पढ़ें ही नहीं। वे आदर्श वाचन से प्रभावित होते रहें और अपनी पसन्द की पुस्तकें पढ़ते रहें। प्रतिदिन शिक्षक के सामने खड़े रहकर और उसे पढ़कर सुनाने की जो प्रथा है, वह तो मिटनी ही चाहिये। ग्रहण किये हुए प्रभाव को दृढ़ बनाने के लिए विद्यार्थी स्वयं जोर से पढ़ें या दूसरों को पढ़कर सुनाएं या परस्पर पढ़ें। शिक्षक के सामने पढ़ने के अतिरिक्त दूसरी कोई भी जोर से पढ़ने की रीति आदर्श-वाचन के प्रभाव को स्थायी बनाएगी।

## ८
# शाला में वाचन

अच्छी तरह पढ़ना जानना भी एक गुण है। इसे अभ्यास द्वारा उपार्जित करने की आवश्यकता है।

प्राथमिक शिक्षण में वाचन पर बहुत जोर दिया जाता है, और वह उचित ही है। एक बार पढ़ने की आदत जो पड़ी, सो पड़ी; बाद में वह बड़ी मेहनत से सुधरती है। शिक्षकों को माध्यमिक पाठशाला में वाचन सुधारने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, और तिस पर भी हम बहुत थोड़ों को सुन्दर रीति से पढ़ते सुनते हैं। इसका कारण यह है कि आरम्भ ही से सुन्दर वाचन की रुचि पैदा नहीं हुई; उसकी आदत नहीं पड़ी।

प्राथमिक पाठशाला के शिक्षक सुन्दर वाचन के लिए अनेक उपायों से काम लेते हैं। विद्यार्थी परीक्षा के समय सुन्दर वाचन करके परीक्षकों को सन्तुष्ट करता है। लेकिन यह भी देखा जाता है कि अधिकांश विद्यार्थी पाठ्यपुस्तक के पाठों के अतिरिक्त, जिन्हें वे बार-बार पढ़ चुके हैं, और फलतः जो उन्हें मुखाग्र हो गये हैं, दूसरी पुस्तकें पढ़ते समय अटकते हैं और पढ़ने का आनन्द नहीं ले सकते; और न इस तरह पढ़ ही सकते हैं कि दूसरे भी समझ सकें।

सुन्दर वाचन के लिए मैंने कुछ रीतियों का प्रयोग बालकों पर किया है। फलतः वे वाचन-रसिक बने हैं; अच्छा पढ़ने लगे हैं। वे ही रीतियाँ नीचे देकर मैं पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे स्वयं इनका अनुभव लेकर देखें।

मैंने आरम्भ ही से बालकों से पाठ पढ़ाना बन्द किया है। मुझको ऐसी एक भी घटना याद नहीं, जब मैंने बालक को अपने सामने पाठ पढ़कर सुनाने को कहा हो। घर से पाठ याद करके आने और अगले दिन मुझको सुनाने की रीति से बालकों को बिलकुल अज्ञात रखने के कारण वे जानते ही नहीं कि पाठ सुनाना क्या बला है! मैंने कभी उनके पाठ नहीं सुने।

उन्हें ककहरा और बारहखड़ी आ जाने के बाद मैं उनके सामने शब्द-पोथियाँ, चिट्ठी-पोथियाँ, हस्तलिखित कहानियाँ और ऐसी अन्य पुस्तकें पढ़ने के लिए रखता हूँ और कहता हूँ—'तुम इनको पढ़ो।'

ठीक इसी समय और इस समय के पहले सुन्दर वाचन के लिए, जो विशेष कर प्रथम होना चाहिये, मैं आदर्श-वाचन करता हूँ।

मैं उन्हें अपने आस-पास बैठाकर उनके सामने ऐसी अच्छी-अच्छी चीजें पढ़ता हूँ, जिनको वे समझ सकें; और जब मैं पढ़ता हूँ, तो अपने वाचन को यथा-सम्भव सरस, सुरीला, हाव भाव-युक्त और निर्दोष बनाने की पूरी चिन्ता रखता हूँ। वाचन की वस्तु मनोरंजक चुनता हूँ, इससे बालक उसे प्रेम-पूर्वक सुनते रहते हैं। बालक पाठ्यवस्तु को सुनते हैं, उसका आनन्द लेते हैं, और साथ ही उनके मन पर सुन्दर वाचन का प्रभाव भी पड़ता है। दिन-प्रतिदिन यह छाप गहरी और गहरी होती जाती है, और फिर ठीक इसी छाप या प्रभाव को वे अपने वाचन में व्यक्त करने लगते हैं।

जब वे उन्हें दी हुई पुस्तकें पढ़ते होते हैं, तो मैं उनके आस-पास चक्कर लगाता रहता हूँ। मेरा प्रयत्न सही है या ग़लत है, सो उन्हें पढ़ते सुनकर मैं तय करता हूँ। और, मुझे विश्वास हो चुका है कि सुन्दर वाचन के लिए आदर्श वाचन एक अमोघ उपाय है।

प्राथमिक शालाओं में विद्यार्थियों को एक के बाद एक खड़ा करके पाठ पढ़ाने की जो रीति आज प्रचलित है, उसे हटा कर यह रीति चलाने योग्य है। जब बारी-बारी से विद्यार्थियों से पढ़वाया जाता है, तो प्रत्येक बालक के मस्तिष्क पर एक ही प्रकार के सुन्दर वाचन की छाप नहीं पड़ती, बल्कि होशियार, मन्दबुद्धि, सब प्रकार के विद्यार्थियों के विचित्र वाचन की चित्र-विचित्र छाप पड़ती है। यह छाप उस चित्र की तरह है, जिस पर एक-पर-एक, अनेक चित्र बनाये गये हों। इससे होशियार विद्यार्थी के भी वाचन के बिगड़ने की सम्भावना रहती है। आदर्श वाचन में तो एक ही छाप अविच्छिन्न रूप से पड़ती है, और वह गहरी पैठती है।

दूसरे, वर्त्तमान पद्धति में जिससे भूल हो जाय, उसको उसकी भूल बताकर बताने वाले को ऊपर चढ़ना होता है। इससे तो पढ़ने वाला बिलकुल घबरा जाता है, एकदम सुस्त हो जाता है, और उसका वाचन सुधरने के बदले बिगड़ता जाता है। भूल बताने से भूल मालूम तो हो जाती है, पर वह सुधरती नहीं है। आदर्श-वाचन में भूल होने और बताने का काम ही नहीं है।

बालक आदर्श-वाचन सुनते हैं। उसकी रीति उनके मन पर ठँसती है। वह उनके लिए आदर्श बनती है। फिर बालक मानो उस आदर्श को सिद्ध करने के लिए पढ़ता है और बार-बार पढ़ता है। इस प्रकार बार-बार पढ़कर वह अपने वाचन की त्रुटि को दूर करता है। स्वयं पढ़ते समय वह अपने को देखता और सुनता है, जिससे वह अपनी भूल खुद जान लेता है। भूल होते ही वह अपने से कहता है—'नहीं, यों नहीं, यों।' आदि। इस विधि से वह घबराता नहीं बल्कि जाग्रत और आत्मविश्वासी बनता है।

चढ़ने-उतरने की वर्त्तमान रीति में स्पर्द्धा आदि शिक्षण के अनिष्ट तत्त्व हैं। एक छात्र दूसरे की भूल बताकर जब ऊपर चढ़ जाता है, और श्रेष्ठता का अनुभव करता है, तो दूसरे को वही खटकता है। फिर भूल बताने वाले की भी तीन भूलें पड़ती हैं, और जो भूला था, वह पुनः दूसरे की पांच भूलें बताता है। इस तरह यह सारा व्यवसाय निरर्थक हो जाता है। आदर्श-वाचन करने वाले शिक्षक के साथ विद्यार्थी की स्पर्द्धा नहीं रहती। वह आदर्श रूप होने से सुन्दर तुलना का साधन बनता है, और शिक्षण में तुलना निर्दोष वस्तु है।

आदर्श-वाचन की पद्धति से पढ़ना सिखाया जाय, तो विद्यार्थियों और शिक्षकों के समय और शक्ति दोनों की बचत हो। पाठ सुनने में समय तो जाता ही है, और सो भी प्रतिदिन! फिर हर एक विद्यार्थी को कुछ ही क्षण पढ़ना पड़ता है; बाद में तो सारी कक्षा के साथ उसे बैठे रहना पड़ता है, और व्यर्थ समय बरबाद होता है। प्रतिदिन की यह व्यक्तिगत माथापच्ची शिक्षक का भी सिर पका डालती है। इसके स्थान पर प्रतिदिन पाठ सुनने के समय में ही आदर्श वाचन किया जाय और वह हफ्ते में दो-तीन बार रक्खा जाय, तो कोई बुराई नहीं। शेष समय विद्यार्थी स्वयं पढ़ने में बिताएं। एक-दूसरे का



ग़लत या सही वाचन सुनने में समय खोने की अपेक्षा वे नया-नया पढ़ा करें, तो कितना लाभ हो?

वही के वही पाठ परीक्षा के दिन तक बार-बार पढ़वाने से वे मुखाग्र हो जाते हैं, और कड़कड़ाट पढ़ सकने के कारण बाह्य दृष्टि से वाचन अच्छा भी दिखाई पड़ता है, जो नये, रंगरूट परीक्षक का मन मोह लेता है। लेकिन यह कोई सच्चा और सुन्दर वाचन नहीं कहा जा सकता। यह तो रट्टू पढ़ाई हुई!

आदर्श-वाचन की प्रथा में इस रट्टू पढ़ाई को जगह ही नहीं है। वाचन के सुन्दर आदर्श को व्यवहार में लाने के लिए, अर्थात् वाचन-शक्ति और कला के विकास के लिए, विद्यार्थी को विशाल वाचन की अनुकूलता चाहिये। पाठ्यपुस्तकों के पाठ हर बार नया रस पैदा करने वाले न हों, तो उनके द्वारा वाचन-शक्ति का विकास नहीं हो सकता। उससे पाठ जबानी याद हो सकते हैं, पर वाचन-शक्ति नहीं बढ़ सकती।

अतएव पाठ्यपुस्तकों के वाचन के साथ ही सुन्दर वाचन की सिद्धि के लिए योग्य पुस्तकों का प्रबंध करना आवश्यक है। हर एक कक्षा में, बालकों की आवश्यतानुसार, हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हों, तो छपी हुई पुस्तकों का एक वाचनालय होना चाहिये। उसमें से समय-समय पर कोई पुस्तक लेकर शिक्षक पढ़ सुनाएं और फिर उन्हें उसे पढ़ने की स्वतंत्रता दे दें। वे पढ़ेंगे और क्रम-क्रम से सुन्दर पढ़ेंगे।

अकेली पाठ्यपुस्तक के पाठों का ही आदर्श वाचन नहीं करना चाहिये। इसकी बड़ी सम्भावना है; क्योंकि आज पाठ्यपुस्तक और परीक्षा ही हमारे सम्मुख रहती है। हम तो दूसरी पुस्तकों की तरह ही पाठ्यपुस्तकों को भी पढ़कर सुनाया करें। इसके फलस्वरूप वाचन अच्छा बनेगा और उसकी सहायता से बालक पाठ्यपुस्तक को भी अच्छी तरह पढ़ सकेगा, स्वाभाविक रीति से पढ़ सकेगा।

आदर्श-वाचन का प्रयोग करने वाले यह ध्यान रखें कि आज आदर्श-वाचन करके कल ही उसके फल चखने की उतावली करना बेकार है। आदर्श-वाचन को बीज-रूप में बोकर तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब तक वह

बालक के मस्तिष्क में उगकर बड़ा न हो। अतएव आरम्भिक प्रयत्नों में बालक को धीमी चाल से, पर दृढ़ता-पूर्वक और निज प्रयत्न से पढ़ते देखकर हम उतावले न बनें, और न मन में इस आग्रह को ही आने दें कि वह जल्दी क्यों नहीं पढ़ता। हाँ, उसे बार-बार आदर्श-वाचन का खाद और पानी देते रहने की आवश्यकता अवश्य है।

## ९

## मूक-वाचन

वाचन-शिक्षण में मौखिक वाचन और मूक-वाचन दोनों का समावेश होता है। मौखिक वाचन साधारणतया दूसरों को सुनाने के लिए है। विद्यार्थी मुँह से पढ़ना तो जाने, पर मन में पढ़ने पर जो पढ़े, सो समझ न सके, वह असल में पढ़ना ही नहीं जानता। मूक वाचन से पढ़ने वाले को कम परिश्रम पहुँचता है, गति तीव्र होती है और समझकर पढ़ने की मात्रा बढ़ती है। अभी पाठशालाओं में मूक वाचन का उचित महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है। कारण यह है कि अभी हम इसके महत्त्व को नहीं समझते। परीक्षा का रंग-ढंग ऐसा है कि शिक्षक को मौखिक-वाचन पर ज़ोर देना ही पड़ता है। शिक्षण और परीक्षण में मौखिक वाचन और वस्तु के बोध को भिन्न मानकर मौखिक वाचन के महत्त्व को बिलकुल घटा दिया गया है, और उसको एक यांत्रिक रूप दे दिया गया है। फल यह हुआ है कि आदमी ज़ोर से पढ़ते समय पढ़े हुए को भलीभाँति समझ नहीं पाता, और मौखिक वाचन की आदत होने से मन में संतोषजनक रीति से पढ़ नहीं सकता। मूक वाचन की शक्ति मनुष्य अधिकतर शाला छोड़ने के बाद बाहर ही प्राप्त करता है। पुराना आदर्श ज़ोर से पढ़ने का ही था। मन में पढ़ने को लोग पढ़ाना ही नहीं समझते थे। कारण यह था कि उस समय की विद्या को मुख द्वारा प्रकट करने की आवश्यकता थी। आज हमें दूसरों को पढ़कर सुनाने की अपेक्षा स्वयं पढ़ लेने की विशेष आवश्यकता है। वाचन का सच्चा आनन्द पढ़ने-वालों को स्वयं ही लूटना है। आज मूक वाचन की शक्ति भलीभाँति प्राप्त कर लेनी चाहिये। पढ़ने में देर लगाना अच्छा नहीं। पढ़कर फिर अर्थ की खोज करना भी ठीक नहीं। मूक वाचन का इतना उत्तम अभ्यास होना चाहिये कि जैसे पढ़ते जायँ, वैसे समझ में आता जाय। शालाओं में इसका विशेष रूप से प्रबन्ध किया जाना चाहिये। आरम्भ ही से इसकी चिन्ता रखी जानी चाहिये। शब्दों का वाचन शुरू होते ही मूक वाचन की आदत पड़नी चाहियें। इसके लिए चिट्ठी-वाचन उपयोगी वस्तु है। चिट्ठी पढ़कर तदनुसार क्रिया करने की प्रथा चलाने से बालक जो पढ़ेगा, सो समझकर ही पढ़ना शुरू करेगा; क्योंकि उसे तदनुसार क्रिया करनी है। उदाहरणार्थ, बालक को 'नाक दिखाओ' नामक चिट्ठी पढ़नी है और वैसा कार्य करना है। यहाँ चाहे जैसे पढ़ देने से ही बालक का काम नहीं चलेगा। अर्थ का बोध होने तक वह बार-बार पढ़ेगा। अर्थ लगते ही वह क्रिया करने दौड़ेगा। इस तरह समझने के लिए मन ही में पढ़ने की आदत पड़ेगी। यह आदत मूक वाचन को अच्छा बनाएगी। मूक वाचक ठीक से किया गया है या नहीं, इसकी जाँच के लिए शिक्षक ध्यान रखे कि बालक चिट्ठी के अनुसार पढ़ता है या नहीं। उसके काम से इसका पता लगेगा। चिट्ठी-वाचन और तदनुसार क्रिया हो चुकने के बाद शिक्षक को मौखिक वाचन के रूप में चिट्ठी पढ़वा लेनी चाहिये। इससे पता चलेगा कि पढ़ने वाला वास्तव में कितना समझा है। जैसे मौखिक वाचन को सब तरह सुन्दर बनाने के लिए आदर्श वाचन की योजना है, उसकी वैसी ही योजना यहाँ भी आवश्यक है।

मूक वाचन को बढ़ाने के लिए इतर वाचन को बढ़ाना आवश्यक है। जब बालक मुँह से राग अलापते हुए पढ़ें, तो उन्हें रोकने की भी आवश्यकता है। पुस्तकालयों में चुपचाप पढ़ने की आदत बढ़ाने से मूक वाचन में उन्नति होगी। मौखिक वाचन पर किया जाने वाला श्रम और खर्च होने वाला समय मूक वाचन के सुन्दर होने पर अपने आप बच जायगा।

## १०
# मौखिक वाचन

मूक-वाचन और मौखिक-वाचन दोनों में मूक-वाचन का अभ्यास अधिक महत्त्व का है। फिर भी मौखिक वाचन की अच्छी-सी आदत तो होनी ही चाहिये। प्रथम मूक वाचन, फिर मौखिक वाचन। जब बालक चिट्ठी पढ़कर उसमें लिखे अनुसार क्रिया करने लगता है, तब उसका मूक वाचन आरम्भ होता है। क्रिया कर चुकने के बाद उसी चिट्ठी को वह ज़ोर से पढ़ जाय। वाचन में जो मन्दता रहती है, और एक प्रकार का राग लेकर पढ़ने की जो आदत पड़ जाती है, वह इस रीति से दूर हो जायगी। फलतः बालक मौखिक वाचन से स्वयं ही सन्तोष अनुभव करेगा और पढ़कर आनन्द लूटेगा। इसलिए प्रथम मूक वाचन और फिर मौखिक वाचन का क्रम रखने से मौखिक वाचन और उत्तम बोध, दोनों, सिद्ध होंगे, अर्थात् एक पंथ दो काज होंगे।

मौखिक वाचन में मुख्य वस्तु है, शुद्ध उच्चारण, कण्ठ, ध्वनि में शब्द का भाव, उचित विराम पर अटकना, साफ़ आवाज़ और हाव-भाव आदि। आदमी समझ कर पढ़े, तो उसमें भाव, विराम और कण्ठ अवश्य होंगे। इस अर्थ में भी मूक वाचन मौखिक वाचन के लिए नींव-रूप है।

शुद्ध उच्चारण के लिए, मीठी और साफ़ आवाज़ के लिए, और छटा के साथ पढ़ने के लिए आदर्श वाचन की छाप बहुत महत्त्व की है। बार-बार भूलें करके, गड़बड़ाकर और अस्पष्ट पढ़ने से मनुष्य की भूलें सुधरती नहीं। बालक भूल बताकर भूलने वाले के ऊपर चढ़ जाय, या शिक्षक भूलने वाले को बुरा-भला कहे, पीटे, या दस-बीस बार पढ़ने को कहे, तो भी भूल तो वैसी ही बनी रहती है। अनुभव की यह बात तो अब हमें स्वीकार करनी ही पड़ेगी। हमारी कक्षाओं का मौखिक वाचन कैसा होता है? सुरीले और बेसुरे कई बाजों के वाचन का एक जलसा ही न! इसमें कोई किसी को सुधारता नहीं, पर सब एक-दूसरे को बिगाड़ते हैं। खराब वाचन का अभ्यास होने के पहले ही आदर्श वाचन की सुन्दर और सुदृढ़ छाप बालक पर पड़ जानी चाहिये। कक्षा में बालकों से प्रतिदिन पढ़वाने की अपेक्षा शिक्षक स्वयं उनके सम्मुख आदर्श वाचन करे, यही इसका सुन्दर उपाय है।

बालक सदा ही शिक्षक से अधिक प्रभावित हुआ करते हैं। वे उसका अनुकरण करते हैं, क्योंकि उनके सम्मुख शिक्षक ही एक बड़ी-से-बड़ी दुनिया है। अतएव शिक्षक के आदर्श वाचन की छाप बालकों पर अवश्य ही पड़ेगी। यह तो ऊपर लिखा ही जा चुका है कि आदर्श-वाचन कैसा होना चाहिये, और उसकी वस्तु आदि का चुनाव कैसे करना चाहिये।

मौखिक वाचन के लिए सदा सरल पुस्तकें चुननी चाहिये। चौथी कक्षा वाले बालक दूसरी पुस्तक या उसकी समकक्ष पुस्तकें ज़ोर से पढ़ा करें। वे स्वयं अकेले भी मौखिक वाचन करें। वे मिलकर पढ़ें, तो सबसे उत्तम। शिक्षक एक श्रेणी के बालकों की अलग-अलग टुकड़ियाँ बना दे। वे बालक बारी-बारी से एक-दूसरे को कहानियाँ और पाठ सुनाएं और यदि शिक्षक स्वयं भी बीच-बीच में जाकर एकाध अच्छा पाठ पढ़ दिया करें, तो उससे भी मौखिक वाचन को सहायता पहुँचेगी।

मौखिक वाचन के लिए बालक मनचाही पुस्तकें पा सकें, इसके लिए एक छोटा-सा पुस्तकालय भी स्थापित करना चाहिये। पुस्तकालय में उनके लिए शब्द-पोथियों, चिट्ठी-पोथियों, बाल-पोथियों, आदि का संग्रह अच्छी मात्रा में रहना चाहिये। ऐसा प्रबंध कर देना चाहिये कि वे इस पुस्तकालय से जब चाहें, पुस्तकें लेकर पढ़ें और चाहें तो घर ले जाकर भी पढ़ सकें।

मौखिक वाचन में जो आवाज़ होती है, वह धीमी कैसे हो, इसे भी उन्हें पढ़कर समझा दें। मौखिक वाचन की इच्छा होने पर उनके लिए एक ऐसी जगह रखनी चाहिये, जहाँ एकान्त हो और जहाँ दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना वे शान्ति से पढ़ सकें। इसी तरह जब वे स्वयं स्फूर्ति से मौखिक वाचन करने बैठें, तो उनके पढ़ने में होने वाली भूलों को सुधारने का तो हमको कभी खयाल तक नहीं करना चाहिये। ध्यान रहे कि मौखिक वाचन में अधिक वस्तु पढ़ लेने की अपेक्षा बालक का बार-बार पढ़ना अच्छा होता है।

# ११

## इतर वाचन

पाठ्यपुस्तकों का अभ्यास करवाकर हम बालकों को भाषा सिखाते हैं। पढ़ाई का ढंग कुछ ऐसा बन गया है कि विद्यार्थी केवल पाठ्यपुस्तक ही पढ़ता रहता है। शिक्षक और परीक्षक भी पाठ्यपुस्तक के उत्तम परिचय में ही पढ़ाई की परिसमाप्ति समझते हैं। फलतः विद्यार्थी का पाठ्यपुस्तक के बाहर का वाचन, अर्थात् इतर वाचन बहुत ही कम या बिलकुल ही नहीं होता। इससे उसकी भाषा-शक्ति का विकास मारा जाता है। उसके ज्ञान की मर्यादा संकुचित रहती है। संक्षेप में, केवल पाठ्यपुस्तकें पढ़ने के कारण विद्यार्थी का भाषा-बल निर्बल देखने में आता है।

पाठ्यपुस्तकों का उपयोग तो विद्यार्थी को भाषा का क्रमिक परिचय कराने में और भाषा की भिन्न-भिन्न शैलियों का ज्ञान कराने में है। दूसरे, पाठ्यपुस्तकों द्वारा ज्ञान के विविध विषयों की ओर अंगुलि-निर्देश कराने का हेतु यह है कि विद्यार्थी उनसे अनुभव करे कि भाषा विकास का एक बलवान साधन है और उस साधन से उसे भी सम्पन्न बनना है। परन्तु पाठ्यपुस्तक ज्ञान-कोश नहीं है, और न कभी हो सकती है। इसी तरह पाठ्यपुस्तक साहित्य-भण्डार भी नहीं बन सकती। भाषा द्वारा साहित्य का आस्वाद लेने और ज्ञानवृद्धि करने के लिए विद्यार्थी को पाठ्यपुस्तक के वाचन के सिवाय अन्य पुस्तकें भी पढ़नी होती हैं। उसे पाठ्यपुस्तक के अभ्यास से बढ़ती हुई भाषा-शक्ति के साथ ही नई-नई पुस्तकें पढ़ते रहना चाहिये। पाठ्यपुस्तक से मिलने वाले बल का उपयोग करने के लिए उसके सम्मुख विशाल वाचन का क्षेत्र खुला रहना चाहिये। शाला के समय में और घर में भी इतर वाचन के स्वतंत्र स्थान के साथ ही उसको सम्मान भी प्राप्त होना चाहिये। हमें इस संकुचित विचार को छोड़ ही देना होगा कि परीक्षा में इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। इसके लिए प्रत्येक पाठशाला में इतर वाचन का एक-एक पुस्तकालय होना चाहिये। कुछ शिक्षकों को इतर वाचन विद्यार्थी के अभ्यास में बाधक प्रतीत होगा। वे कहेंगे कि परीक्षा में उसका क्या उपयोग है? पढ़ना ही हो, तो फिर-फिर पाठ्यपुस्तक ही पढ़ी जाय, जिससे वह पक्की हो। ये और ऐसे विचार शिक्षकों के दिमाग़ से दूर होने में अभी समय लगेगा। इसलिए आरम्भ में तो इतर वाचन को एकाध विषय मानकर उसे समय-पत्रक में महत्त्व का स्थान देना चाहिये। यदि एक घण्टा पाठ्यपुस्तक के लिए हो, तो दो घण्टे इतर वाचन के लिए रखे जाने चाहिये। स्वयं विद्यार्थी ही बता देंगे कि पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा इतर वाचन उन्हें कितना प्रिय है। यही नहीं बल्कि इतर वाचन के कारण पाठ्यपुस्तक का अभ्यास अधिकाधिक सरल होता जायगा। विद्यार्थी जैसे-जैसे पढ़ते जायँगे, वैसे-वैसे उनकी वाचन-शक्ति बढ़ेगी; और उसी गति से उनकी समझने की शक्ति भी बढ़ेगी। पाठ्यपुस्तक के पढ़ने में इससे अवश्य ही लाभ होगा। वास्तव में तो भाषा का परिचय हो जाने के बाद स्वयं पढ़ते रहने और ज्ञान तथा आनन्द का पान करते रहने में ही भाषा का सच्चा विकास है। पाठ्यपुस्तकों की सहायता कदाचित् शुरू के कुछ वर्षों तक भले आवश्यक मानी जाय; परन्तु आगे चलकर इतर वाचन को ही प्रधान वस्तु बनाने की चेष्टा की जानी चाहिये। पाठशाला में एक समृद्ध पुस्तकालय हो और विद्यार्थियों को उसमें से भिन्न-भिन्न विषयों की सरस शैली वाली क्रमिक पुस्तकें मिलती रहें, तो भाषा का अभ्यास शिक्षक की सहायता के बिना या अल्प सहायता से भी हो सकता है।

पाठशाला के बाहर यानी घर में इतर वाचन का शौक़ बढ़ना चाहिये। पाठशाला के ऐसे पुस्तकालय से छात्रों को पुस्तकें मिलती रहनी चाहिये। शिक्षक का उत्साह विद्यार्थियों को भी आकर्षित करेगा। अधिकांश विद्यार्थियों को यह सूझता ही नहीं कि घर पर क्या किया जाय। फिर केवल सबक़ याद करने में उनका मन भी नहीं लगता। इतर वाचन मनोरंजन के साथ ज्ञान भी देगा और देगा पाठ याद करने के लिए नई स्फूर्ति। इसके सिवाय, विद्यार्थी का समय भी अच्छी तरह बीतेगा।

इतर वाचन का पुस्तकालय उत्साह और योग्यता-पूर्वक तैयार किया जाना चाहिये। उसमें साधारण और ऐरी-ग़ैरी पुस्तकें रखने से काम नहीं

चलेगा। वर्ग-शिक्षक अपने विद्यार्थियों के लिए उपयोगी पुस्तकें छाँट सकता है। घर पर पढ़ने को देते समय भी विद्यार्थी की शक्ति का ख़याल रख सकता है। साथ ही, इतर वाचन का शौक़ बढ़ाने और पुस्तक का चुनाव करने में विद्यार्थियों को सहायता पहुँचाने की दृष्टि से शिक्षक को भिन्न-भिन्न पुस्तकों से समय-समय पर उनके कुछ अंश पढ़कर स्वयं सुनाते रहना चाहिये।

वास्तव में विद्यार्थियों को कौनसी पुस्तकें प्रिय हैं, और कौनसी नहीं, यह जानने के लिए, अर्थात् इतर वाचन में क्रमिकता का अभ्यास करने के लिए और व्यक्तिगत प्रगति देखने के लिए पुस्तकालय में पढ़ने वालों के नाम और ली हुई पुस्तकें आदि बराबर दर्ज होती रहनी चाहिये। इस टीप के आधार पर यह पता चल सकेगा कि सारी शाला में कितनी पुस्तकें पढ़ीं गईं, कौनसी अधिक पसन्द की गईं, कौनसी धरी रह गईं और कितने समय में कितनी पढ़ी गईं इत्यादि। इससे यह भी मालूम होगा कि दिन-प्रति-दिन इतर वाचन के पुस्तकालय में क्या और कैसे सुधार किये जायें, और किस प्रकार विद्यार्थियों को इस ओर अभिमुख बनाया जाय।



## द्वितीय खण्ड : लेखन-शिक्षण

### १

### रेखा-चित्रण

रेखायें खींचने का उद्देश्य हाथ को अक्षर और चित्र के लिए स्थिर और उन्मुक्त बनाना है। यदि क़लम बराबर हाथ में रहे और बालक उससे इच्छानुसार छोटी-बड़ी रेखायें खींच सके, तो हम कह सकते हैं कि उसकी क़लम में स्थिरता और उन्मुक्तता आई है।

यह उद्देश्य हमारे सामने रहना चाहिये। बड़े बालकों में दो प्रकार के बालक होते हैं। एक वे, जिनका क़लम पर काबू होता है और जो बहुत फ़ुर्ती के साथ रेखायें खींच सकते हैं। इससे ऐसा भास होता है, मानो वे पेन्सिल घिस कर रंग भर रहे हैं। दूसरे प्रकार के बालक वे हैं, जो पेन्सिल घिसकर ही रंग भरते हैं। उनके हाथ में सच्ची क्षमता नहीं होती। दोनों के काम को देखने-मात्र से उनकी योग्यता का अन्तर स्पष्ट मालूम पड़ता है। रंग घिसने वाले के चित्र में एक-सा रंग नहीं होगा। रंग की दिशा भी एक न होगी। पर फ़ुर्ती से, किन्तु बिना घिसे काम करने वाले बालक के चित्र में रंग की भरावट एक-सी दिखाई देगी। ऐसा मालूम होगा, मानो रंग का एक सरीखा हाथ पोता गया है।

बहुधा छोटे बालक बड़ों का-सा परिणाम प्राप्त करने के लिए पेन्सिल घिसते हैं। बड़े बालक उन्हें पेन्सिल घिसते हुए ही दिखाई पड़ते हैं। उन्हें यह पता नहीं रहता कि बड़ों की फ़ुर्ती से चलने वाली पेन्सिल के पीछे कितने समय का अभ्यास और कितना पुनरावर्तन है! वे तो एक सम्पूर्ण कार्य देखते हैं।

लेकिन वे नहीं जानते कि उस सम्पूर्णता तक पहुँचने में कितनी छोटी-मोटी तैयारियाँ क्रम-क्रम से हो चुकी हैं। इस कारण वे झूठा अनुकरण करते हैं। ऐसी दशा में शिक्षक को चाहिये कि वह सतर्क रहे और उन्हें न तो घिसकर रेखायें खींचने दे और न रंग भरने दे। वे जब-जब ऐसा करें, उन्हें पुनः-पुनः ठीक मार्ग पर लाता रहे।

रेखा खींचना सिखाते समय आरम्भ ही से सावधान रहना चाहिये। ग़लत आदत पड़ जाने पर बालक को उससे बचाना चाहिये और उसको बार-बार रेखायें खींचकर दिखानी चाहिये। इस समय रेखायें पास-पास खींचकर दिखाने की अपेक्षा दूर-दूर खींचनी चाहिये। पर कभी-कभी यह भी दिखाना चाहिये कि बहुत पास-पास रेखायें खींचकर ही सुन्दर रंग भरा जा सकता है, घिसकर नहीं। बालक की कॉपी के पहले पन्ने पर, अथवा कक्षा में, खिची हुई रेखाओं वाली आकृतियाँ चिपका अथवा लटका देनी चाहिये। यह सब उस बालक के लिए है, जो एक बार रास्ता भूल चुका है। बालकों का आरम्भ ही से मुक्त हस्त होना सर्र्-सर्र रेखायें खींचना, अच्छा है। धीमे-धीमे दो बिन्दु मिलाने से ही हाथ नहीं खुलेगा। फुर्ती से रेखायें खींचते हुए भी हाथ में इतना काबू आ जाना चाहिए कि वह हद से बाहर न जाय।

किसी भी रेखा को इच्छानुसार खींचने का मतलब है, उसे दो निश्चित बिन्दुओं के साथ इस प्रकार जोड़ देना कि इच्छित दिशा आ जाय। ज्यामिति के आकृति-चित्रों की रेखायें ऐसे बिन्दुओं वाली हैं। बालक रेखा खींचते समय किसी भी बिन्दु से पेन्सिल चलाकर दूसरे बिन्दु को जोड़ देने का काम स्वभावतः करता है। निश्चित बिन्दु उसके सम्मुख नहीं होते, तथापि हर कहीं वह तो निश्चित बिन्दुओं को ही जोड़ता है। इसलिए उसे बिन्दुओं के जुड़ने-न-जुड़ने की चिन्ता नहीं रहती। प्रत्येक रेखा में बिन्दुओं को जोड़ने की यही क्रिया होती रहती है। जैसे-जैसे बालक की रेखायें सीधी और समानान्तर बनती हैं, वैसे-वैसे वह आमने-सामने के बिन्दुओं को अनजाने ही जोड़ता है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रथम तो वैसे ही, बालक को रेखायें खींचने में मजा आता है। लेकिन शनैः-शनैः, ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि के सामने आकृति की परिसीमा आती जाती है, और जैसे-जैसे वह बिन्दुओं की सीमा के अन्दर रहकर समान लम्बाई में रेखायें लक्ष्यपूर्वक खींचना शुरू करता है, वैसे-वैसे उसके हाथ की तालीम शुरू होती है, और सच्चा आनन्द बढ़ता है।



भूल होने की चिन्ता उसके सिर पर सवार नहीं रहती, फिर भी होने वाली भूल उसे मालूम होती रहती है। दो बिन्दु दीखते नहीं, पर जुड़ते रहते हैं। यही इस रचना की खूबी है।

भौमितिक आकृतियों में रेखायें खींचने का यही उद्देश्य है। व्यर्थ की रेखायें खींचने से कोई लाभ नहीं।

बड़ी उम्र के अनेक बालक, जो आगे नहीं बढ़ सके हैं, पटरी से रेखायें खींचते हैं, पर उनका यह संतोष मिथ्या है। उन्हें ऐसा करने से रोकना और राह पर लाना चाहिये।

समस्त प्राथमिक पाठशालाओं की बाल-कक्षाओं में रेखा खींचने की यह पद्धति चालू कर दी जाय, तो बहुत ही उपयोगी होगी। इसके साधन हैं, ज्यामिति की दस आकृतियाँ, पट्टी और स्लेट-पेन्सिल। ये आकृतियाँ लोहे की होती हैं, इसलिए बरसों चल सकती हैं। कोई साधन-सम्पन्न पाठशाला कागज और रंगीन पेन्सिलें दे सके, तो और भी अच्छा है। इससे बालक रंग का भी आनन्द ले सकेंगे। लेकिन यह संभव न हो, और पट्टी-पेन से ही काम चलाना पड़े, तो उससे भी नीचे लिखे लाभ तो होंगे ही :

1. पेन्सिल पर क़ाबू प्राप्त होगा। (2) अँगुलियाँ इच्छानुसार मुड़ सकेंगी, और (3) बालक भौमितिक आकृतियाँ और उनके अन्दर डिज़ाइन (घने-चित्र) बनाने की ओर प्रवृत्त होंगे।

इस प्रकार लेखन और चित्रकला की कुछ प्राथमिक तैयारी हो सकेगी।

# २

## श्रुत लेखन

श्रुत लेखन का सच्चा उद्देश्य लेखन में गति लाना है। जहाँ लिखने के लिए हाथ तैयार होने से पहले ही बालकों को लिखना सिखाया जाता है, या जहाँ बालकों ने स्वेच्छा से बार-बार लिखकर लिखने की गति बढ़ाई नहीं होती, वहाँ बालकों का लेखन धीमा होता है और उनके लिए श्रुत लेखन व्यवहार्य है।

गति के साथ शुद्ध और सुन्दर लेखन भी जोड़ दिये गये हैं। फलत: आज हम श्रुत लेखन में तीन बातों की अपेक्षा रखते हैं:—अच्छे अक्षर, शुद्धि और गति। लेकिन शुद्धि व्याकरण का विषय है। श्रुत लेखन उसकी परीक्षा के रूप में ही हो सकता है, अतएव उसे अलग ही सिखाना चाहिये। इसी तरह श्रुत लेखन सुन्दर लेखन की परीक्षा का भी साधन है। लेकिन जहाँ श्रुत लेखन का उपयोग गति बढ़ाने के लिए किया जाता हो, वहाँ सुलेखन को भी एक स्वतन्त्र विषय बना देना चाहिये। हिज्जे, संयुक्ताक्षर, विराम-चिह्न, आदि सिखाने के लिए और सुलेखन के लिए घोटने आदि की अलग ही व्यवस्था की जानी चाहिये। इन कामों के साथ गति बढ़ाने के लिए अलग से श्रुत लेखन भी हुआ करे, तो ठीक। श्रुत लेखन में भाषा की भूलों और खराब अक्षरों के लिए अलग समय में अलग उपाय किये जा सकते हैं। आजकल की तरह एक ही समय में सब कार्य नहीं होने चाहिये।

सुनकर फुर्ती से लिखने के लिए कान, हाथ और आँख के सहयोग की आवश्यकता होती है। आरम्भ ही से कान को ऐसी आदत डालनी चाहिये कि वह एक बार सुनकर तुरन्त ही ग्रहण कर ले। आज जब शिक्षक श्रुत लेखन लिखाते हैं, तो विद्यार्थी 'क्या', 'जी' आदि प्रश्न करते रहते हैं। वे समूचा वाक्य ग्रहण नहीं कर सकते। शिक्षक दो-दो, चार-चार बार बोलता है। यदि शिक्षक एक बार धीरे-धीरे बोले और उस समय विद्यार्थी शिक्षक के सामने देखकर ध्यान से सुन लें और फिर लिखें, तो एक ही बार के बोलने से काम चल सकेगा।

गति श्रुत लेखन का उद्देश्य है। इसका यह अर्थ नहीं कि जैसे-तैसे, और खराब अक्षर लिखकर गति बढ़ाई जाय। गति का आदर्श अतिरेकपूर्ण नहीं होना चाहिये। अक्षरों को बिगाड़कर गति बढ़ाना व्यर्थ है। बहुत फुर्ती करने से अक्षर बिगड़ते हैं। अच्छे अक्षरों के साथ सच्ची गति बढ़ानी हो, तो आरम्भ में श्रुत लेखन धीमी गति से लिखाना चाहिये और अक्षर अलग-अलग, बड़े और साफ़ लिखवाने का ही आग्रह रखना चाहिये। इसके लिए छात्रों को आवश्यक समय देना चाहिये। लेकिन धीरे-धीरे उन्हीं अक्षरों के साथ गति बढ़ानी चाहिये। ऐसा करने से अक्षर अच्छे रहेंगे और गति भी बढ़ेगी।

साथ ही, गति बढ़ाना ही उद्देश्य होने के कारण श्रुत लेखन जिस किसी भी पुस्तक से लिखाया जा सकता है। इस विषय में इतने पाठ हुए और इतने नहीं हुए की पुकार मचाना आवश्यक नहीं। जब श्रुत लेखन के लिए पाठ ठहरा दिये जाते हैं, तो वे रटे भी जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

श्रुत लेखन के समय शिक्षक यह ध्यान में रक्खे कि शुद्धि आदि में विद्यार्थी कितना कमज़ोर है और उसके अक्षर कैसे हैं : लेकिन उस समय वह उनके सुधार की चेष्टा न करे। इसके लिए अलग समय रक्खे।

घर से दस-बीस बार लिख लाने से भी गति नहीं बढ़ती। गति के उद्देश्य को प्रधान रूप से सम्मुख रक्खे बिना लिखाया जाने वाला श्रुत लेखन समय की बरबादी-भर है। इस तरह श्रुत लेखन को एक पृथक विषय बना डालने से बालक लिखने में गति बढ़ाने का खुशी-खुशी प्रयत्न करेंगे और उन्हें दूसरे विषय अधिक अच्छी तरह सीखने का अवकाश भी रहेगा।

## ३

# हिज्जों का शिक्षण

हिज्जों का शिक्षण शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के लिए कष्टप्रद है। असल में तो अभ्यास के समय ही विद्यार्थी का ध्यान शुद्ध-अशुद्ध हिज्जों की ओर आकर्षित करना चाहिये।

हिज्जों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान खींचने से धीरे-धीरे वे हिज्जों का सही उपयोग करने लगेंगे। पांच-पचास शब्दों के हिज्जे सिखाने से या बुलवाने से हिज्जों की सुरुचि में वृद्धि नहीं होती। हिज्जों के लिए आँख और कान की तीव्रता और संस्कारिता के अभ्यास की आवश्यकता है।

हिज्जों की रुचि को हम तीन प्रकार से जाग्रत और विकसित कर सकते हैं। एक, कान की मदद से; दूसरे, आँख की मदद से; और तीसरे, हाथ की मदद से।

वस्तुतः हिज्जा वाणी और श्रवण का विषय है। लिखी जाने वाली भाषा से पहले बोली जाने वाली भाषा में वाणी की शुद्धि और कान की तीव्रता के कारण हिज्जे आ चुके थे। उसके बाद मुँह के हिज्जे लेख रूप में आने लगे। अतएव हिज्जों की शुद्धि के लिए वाणी की निर्मलता और कान की सूक्ष्मता तथा तीव्रता के विकास की आवश्यकता है।

कक्षा में शिक्षक को शुद्ध वाणी बोलनी चाहिये; स्वाभाविक रूप में बोलनी चाहिये। अपने उच्चारण में या अपनी आवाज़ में शुद्धि का अभाव हो, तो उसे दूर करना चाहिये।

बालक शुद्ध हिज्जों वाले वातावरण में रहेंगे, तो उनके कान उसके अभ्यस्त बनेंगे। ऐसे अभ्यस्त कानों द्वारा विद्यार्थियों को नीचे लिखी रीति से हिज्जे सिखाने चाहिये :

विद्यार्थियों को एक गोल घेरे में बैठाकर शिक्षक कहे—'मैं बोलता हूँ, तुम सुनो। तुम्हें मेरा शब्द ह्रस्व सुनाई पड़े, तो दोनों हाथ उठाना और दीर्घ सुनाई पड़े, तो एक हाथ उठाना।' ह्रस्व क्या है और दीर्घ क्या है, सो उदाहरणपूर्वक उन्हें पहले ही बता देना चाहिये। जैसे, विनायक में वि ह्रस्व बोली जाती है और दीनानाथ में दी दीर्घ बोली जाती है। अतएव विनायक की वि ह्रस्व और दीनानाथ की दी दीर्घ कहलाती है। इतना समझा चुकने के बाद विचार, विवेक, विद्या, विना, और चीर, नीर, हीर, धीर, नदी आदि शब्दों का उच्चारण करवाकर हाथ उठवाने चाहिये।

इस प्रकार जब यह मालूम होने लगे कि बालक ह्रस्व को ह्रस्व, और दीर्घ को दीर्घ यथावत् समझने लगे हैं, तो खड़िया से तख्ते पर ह्रस्व चिह्न लिखकर विद्यार्थियों से कहना चाहिए—'ह्रस्व उच्चारण का यह चिह्न (ि) और दीर्घ उच्चारण का यह चिह्न (ी) है।' इसके बाद विनायक, विचार, विवेक, विद्या, विना, और चीर, नीर, धीर, हीर, नदी आदि शब्द ह्रस्व-दीर्घ के चिह्नों को बड़ा दिखाकर लिखने चाहिए। फिर विद्यार्थियों से पट्टी पर नये शब्द लिखवाने चाहिये। शब्दों के हिज्जों के लिए यह एक प्रकार का श्रुत-लेखन होगा। लेकिन इस श्रुत लेखन का आधार भिन्न है। शब्द लिखाते समय शिक्षक को स्वाभाविक उच्चारण करना चाहिये। विशेष ह्रस्व और विशेष दीर्घ बोलकर पुरानी श्रुत लेखन पद्धति से लिखवाना छोड़ देना चाहिये।

शब्दों का उच्चारण धीमे से, छटा के साथ और स्पष्टतापूर्वक करना चाहिये। बालकों को पहले से ही कह देना चाहिये कि प्रत्येक शब्द कितनी बार बोला जायगा। जितना कहा गया हो, उससे अधिक बार बोलना ठीक नहीं। बालकों की 'क्या कहा?', 'क्या कहा?' पूछने की आदत को आरम्भ ही में रोक देना चाहिये।

शुरू-शुरू में यह शिक्षण यथासम्भव शान्त स्थान में दिया जाना चाहिये। क्योंकि यह काम कान के द्वारा करना पड़ता है। लिखने में होने वाली भूलें सुधारना या विद्यार्थियों को उन्हें समझाना आवश्यक है। हाँ, भूलें क्यों पड़ती हैं, इसके कारण की खोज ज़रूर करनी चाहिये। बहरा या कम सुनने वाला विद्यार्थी, अथवा शब्द और ध्वनि के रस से शून्य विद्यार्थी इस रीति से हिज्जे सीख नहीं सकेगा।

शिक्षक बालकों से कहे—'तुम स्वयं जिस तरह बोलते हो, उसी तरह लिखो। बोलो देखें, रविवार। कहो, वि तुम्हारे कान को ह्रस्व सुनाई पड़ती है या दीर्घ?' अगर विद्यार्थी शुद्ध बोलता होगा तो कहेगा—'ह्रस्व सुनाई पड़ती है।' फिर शिक्षक उसे कहे—'रविवार लिखो। वि ह्रस्व लिखोगे न?'

इसके बाद विद्यार्थियों को सुझाइये कि वे अपने आप अपनी बोली सुनकर ह्रस्व और दीर्घ शब्दों को स्वयं लिखें। ध्वनि-प्रधान और शब्द-प्रधान छात्रों को इस कार्य में बड़ा मजा आएगा और वे शुद्ध-शुद्ध लिखेंगे।

इसी तरह एक शब्द में आने वाले एकाधिक ह्रस्व-दीर्घ लिखने की रीति बालकों को सिखानी चाहिये यह काम खेल की तरह होना चाहिये। इसमें सार्थक और निरर्थक, दोनों, शब्दों का उपयोग किया जा सकता है। मुख्य आधार ध्वनि पर है। शिक्षक के पास अच्छा-सा शब्द-संग्रह रहना चाहिये। वह ककहरे के क्रम से हो तो और भी अच्छा। इसी तरह परिश्रमी शिक्षक, दो, तीन या चार अक्षरों के हिज्जे वाले शब्दों का संग्रह भी रख सकता है।

अब आँख से हिज्जे सिखाने की रीति का विचार कीजिये। इसके लिए किसी शास्त्रीय रीति के आधार का दावा नहीं किया जा सकता। हिज्जे वाले शब्द बतलाने और ध्यान में रखवाने से धीरे-धीरे हिज्जे सही बनने लगते हैं। विद्यार्थियों से किसी भी पुस्तक के पृष्ठों में पेन्सिल से ह्रस्व और दीर्घ शब्दों पर निशान लगवाइये। तरह-तरह के हिज्जों वाले शब्दों का अन्वेषण और विकास होना अभी बाक़ी है। कुछ बड़ी उम्र के विद्यार्थियों को प्रूफ-संशोधन का शौक़ लगाने से उन्हें ह्रस्व और दीर्घ शब्दों का विचार करना पड़ेगा; फलतः वे उनका निर्णय करेंगे और किया हुआ निर्णय उन्हें बराबर याद रहेगा। वही के वही टाइप आँख के सम्मुख आने से आँख स्वयं ही उन्हें धारण करके रखती है और इस तरह हम स्वतः समय आने पर शुद्ध या अशुद्ध लिखने लगते हैं। प्रूफ-संशोधन की रीति शिक्षक तख्ते पर लिखकर बता सकता है।

हाथ की सहायता से हिज्जों को शुद्ध करने की रीतियाँ हैं; एक तो बार-बार शुद्ध शब्दों की नक़ल करना, और दूसरे, कण्ठ से ध्वनि ह्रस्व निकलती है या दीर्घ, इसका भेद गले की हड्डी पर अँगुली रखकर परखना। हम अपने गले की हड्डी पर अंगुली रखकर बोलेंगे, तो शब्दोच्चारण के कारण अँगुलियों पर हड्डी ऊँची-नीची होती हुई मालूम पड़ेगी। पहले हर एक शिक्षक स्वयं इसका विश्वास करले कि अँगुलियों को हड्डी पर ह्रस्व-दीर्घ का भेद मालूम होता है या नहीं। फिर विद्यार्थियों को भी यह विधि सिखा दे और तब उनसे ह्रस्व-दीर्घ शब्द बुलवाकर उन्हें अनुभव करा दे कि अँगुलियों पर ह्रस्व-दीर्घ का आघात कैसा मालूम पड़ता है।

इस रीति से विद्यार्थी दूसरे रूप में भी ह्रस्व-दीर्घ का भेद पहचानना सीखेगा और जैसे वह अपनी वाणी की शुद्धि को कान द्वारा सुन सकेगा, वैसे ही स्पर्श और स्नायु द्वारा भी वह वाणी को सुनेगा और तदनुसार उसके लेखन में शुद्धि या अशुद्धि भी आएगी।

४

## शब्दों का पृथक्करण

वाणी शब्द-संगीत है। वाणी की मधुरता, कोमलता, मृदुता, कर्कशता और कठोरता आदि वाणी-संगीत के सुर हैं; और वाणी में शब्द या वाणी द्वारा व्यक्त होने वाला डोलन शब्द-संगीत का ताल है। जब हम बोलते हैं, तो ताल बद्ध बोलते हैं। 'राम ने फल खाया।' इस वाक्य में 'राम ने', 'फल', 'खाया', इन शब्दों को पृथक् करके प्रत्येक शब्द पर अमुक प्रकार का भार देते हुए हम बोलते हैं। इसे मैं डोलन अथवा ताल कहता हूँ। अगर हम 'राम ने' 'फ' 'लखाया' बोलें, तो वह बोलना ताल-रहित होगा। कभी-कभी प्रेस के भूतों की कृपा से पुस्तक में इस प्रकार की ताल-रहित बातें पढ़कर हमें चिढ़ छूटती है। इसी तरह तालबद्ध लिखना हमारे लिए स्वाभाविक है। हर एक शब्द का ताल दो शब्दों के बीच रहने वाले समय के अन्तर में से उत्पन्न होता है। यह अन्तर कितना ही कम क्यों न हो, पर इसके होने से ही ताल पैदा होता है। हम इस अन्तर को त्याग कर बोलने का प्रयत्न करेंगे, तो दूसरे

हमारी बात समझ नहीं सकेंगे। छोटे बोलकों की बोली कभी-कभी समझ में नहीं आती। इसी तरह बेहोश आदमी की बातें भी कठिनाई से समझ में आती हैं। इसका कारण शब्दों के बीच में अन्तर न रहने से उत्पन्न होने वाली ताल-शून्यता ही है।

लोग जब लिखने लगे होंगे, तो मानो यह समझ कर कि वे जैसा बोलते हैं, वैसा ही लिखते हैं, शब्दों को पास-पास लिखकर लिखा हुआ पढ़ने बैठे होंगे। परन्तु जब उन्होंने शब्दों को एक-दूसरे के अन्दर मिलते हुए देखा होगा और अपने लिखे शब्दों का अर्थ स्वयं उन्हीं को खोजना पड़ा होगा, अथवा उन शब्दों से अनर्थ का बोध होता हुआ मालूम पड़ा होगा, तब वे यह विचार करने लगे होंगे कि किस प्रकार लिखा जाय। और, विचार कर-करके फिर उन्होंने वाणी में विद्यमान डोलन को ढूंढ़कर उसे लेखन में उतारा होगा। अनुमान किया जा सकता है कि उनके इस प्रयत्न से ही शब्दों को पृथक् करके लिखने की रीति का आविष्कार हुआ होगा।

पुराने समय की कथा-पुराण आदि की पुस्तकें देखने से पता चलेगा कि उनमें प्रकरणों, परिच्छेदों, विराम-चिह्नों और शब्दों को पृथक् लिखने का कहीं पता तक नहीं है। व्यापारियों के पुराने काग़ज़ों में इनके दर्शन नहीं होंगे। चिट्ठी-पत्री में भी ये नहीं मिलेंगे। विराम, अल्पविराम, पूर्ण विराम का कहीं नाम ही न होगा! एक शब्द से दूसरा शब्द पृथक् भी नहीं दीखेगा। एक समय था, जब लेखन में काना-मात्रा भी नहीं थे। धीरे-धीरे वाणी में विद्यमान डोलन का बोध होने लगा। एक विचार के समाप्त होने पर स्वभावतः कुछ रुकते हैं। इस वस्तु को लेखन में पूर्ण विराम का रूप दिया गया है। एक ही वस्तु को ध्यान में रखकर दरसाये हुए विचार पूरी तरह व्यक्त कर चुकने पर हम अधिक विराम लेते हैं। नये विचार-समूह को व्यक्त करने से पहले काफ़ी आराम ले लेते हैं। अपने में विद्यमान इस स्वाभाविकता को पहचान कर लेखन में हम इसे पैराग्राफ़ों या कण्डिकाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। इसी क्रम से हम लेखन में शब्दों को पृथक् लिखने, वाक्यों के अन्त में पूर्ण विराम देने, वाक्य-समूहों की कण्डिकायें बनाने, कण्डिकाओं के प्रकरण और प्रकरणों की



पुस्तकें बनाने की हद तक पहुँचे है। यह सब वाणी में रहे हुए डोलन या ताल को लेखन में यथावत् व्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम है।

वाणी के शिक्षण में कर्णेन्द्रिय महत्त्व की वस्तु है। वाणी के डोलन को हम कान से सुन सकते हैं। सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, डोलन को समझने के लिए कान की इन्द्रिय का यथोचित विकास हो जाना चाहिये। जब हम लिखते हैं, तो अपनी या दूसरों की वाणी को कान से सुनकर लिखते हैं। अतएव यदि हमें अपनी वाणी को लेखन में व्यक्त करना हो, तो हमें मोटे तौर पर उसे कर्णेन्द्रिय पर छापना चाहिये, जिससे वह काग़ज़ पर तद्वत् छप जाय। हाथ को केवल लिखने का काम करना है। मस्तिष्क का काम केवल यह है कि वह हाथ को लिखने का हुक्म दे; लेकिन किस तरह और कैसा लिखना चाहिये, इसका निर्णय तो कान को करना होता है और करके मस्तिष्क के पास पहुँचाना पड़ता है। आरम्भ में बालकों को शब्दों का पृथक्करण सिखाना हो तो कदाचित् आँख की सहायता से सिखाया जा सकता है। जिनकी कर्णेन्द्रिय दुरुस्त हो, उन्हें तो उस इन्द्रिय द्वारा ही लेखन की शुद्धि सिखानी चाहिये। जब बालकों के कान वाणीगत डोलन को लेखन में समझने लग जायँ, तब उस लेखन को लिखकर व्यक्त करने की रीति उन्हें बतायी जा सकती है। फिर तो लेखन में पृथक् शब्द, पृथक् वाक्य, पृथक् पैरा वग़ैरा अपने आप पड़ने लगते है।

पहले दो-चार बालकों को बुलाकर उनके सामने वाक्य इस तरह बोलकर बताने चाहिये कि शब्द पृथक् न मालूम पड़ें। फिर वे ही वाक्य सहज गति से बोलकर बताने चाहिये। उसके बाद जरा अधिक डोलनपूर्वक, अर्थात् शब्दों के बीच अधिक समय का अन्तर रखकर वाक्य बोलना चाहिये, और इस ओर बालकों का ध्यान खींचना चाहिये। उनसे कहिये—'सुनो, मैं बोलता हूँ। मेरे बोलने में कितने टुकड़े पड़ते हैं, सो गिनो।' जैसे, 'मेरे पास दो रुपये हैं।' इस वाक्य को मेरे पास…दो…रुपये…हैं, इस प्रकार बोलकर बताइये। मुंह से टुकड़े-टुकड़े करके बोलिये और बालकों से गिनवाइये। बालक कहेंगे—'पाँच टुकड़े हैं।' इस प्रकार दूसरा और फिर तीसरा, यों कुछ वाक्य बोलकर, उन में कितने टुकड़े पड़ते हैं, सो गिनाइये। इसके बाद 'आजा मुन्ना,

आजा राजा' या ऐसी ही किसी सादी कविता की पंक्तियों के टुकड़े करवाइये। फिर दूसरी कविता की पंक्तियों के भी टुकड़े करवाइये। बालक कान से सुनकर टुकड़े करें। बालकों के लिए यह एक खेल-सा बन जायगा। खेल के रूप में यह काफ़ी समय तक चलेगा। किसी-किसी बालक की गिनती में भूल भी होगी। साधारणतः ताल-प्रधान और ध्वनि-प्रधान बालकों की भूलें कम पड़ेंगी। इस प्रकार अच्छी तरह गिनना आ जाने के बाद काग़ज़ पर शब्दों को पास-पास रखकर एक वाक्य लिखिये और मुँह से बोले जाने वाले वाक्यगत डोलन को लिखावट में किस तरह प्रकट किया जाता है, सो प्रत्येक शब्द के आगे एक-एक रेखा खींचकर दिखाइये। फिर विद्यार्थियों से कहिये कि इस तरह वे लिखने में भी वाक्यों के टुकड़े कर सकेंगे। विद्यार्थी इस खेल को तुरन्त अपना लेंगे। आरंभ में उन्हें छोटे-छोटे वाक्य दीजिये। यथा—

राम रोटी खाता है।
वन में कोयल गाती है।
घर में मुन्नी रोती है।
मोहन खेल जाता है।

बालकों से कहिये कि वे वाक्यगत शब्दों को पेन्सिल की खड़ी रेखाओं द्वारा पृथक् करके दिखाएं। आरम्भ में वे विभक्ति को, अव्ययों को और कुछ क्रियापदों को, जैसे 'करता' और 'है,' आदि को पृथक् करने या न करने में भूल करेंगे। पर धीरे-धीरे वे ऐसी भूलें करना छोड़ देंगे। छोटे वाक्यों के बाद बड़े और फिर अधिक बड़े वाक्यों के शब्दों को पृथक् करवाइये।

इसके लिए बिलकुल छोटे वाक्यों से लेकर बड़े-बड़े वाक्यों तक का एक अच्छा-सा संग्रह तैयार रखना चाहिये। इन वाक्यों को विशेष कर डोलन की दृष्टि से चुनना चाहिये। कुछ वाक्य ऐसे होते हैं, जिनमें डोलन होता ही नहीं। साहित्यगत संगीत को जानने वाला आदमी डोलन को तुरन्त पकड़ सकता है, या डोलन की त्रुटियों को सहन नहीं कर सकता।

छोटे-छोटे वाक्यों में—



मेरी माँ।
तुम्हारी माँ।
छोटे चाचा।
बड़े चाचा।

जैसे वाक्य भी लिए जायें और बड़े वाक्यों में तो 'कुसुमावलि' और 'कादम्बरी' के वाक्य भी लिये जा सकते हैं।

लम्बाई के प्रमाण से वाक्यों का क्रम बना लेना चाहिये और प्रत्येक क्रम में से कुछ वाक्य लेकर उन-उन वाक्यों के शब्दों को पास-पास लिखकर अलग-अलग चिट्ठियाँ तैयार कर लेनी चाहिये।

साथ ही, शब्दों को अलगाने का खेल सीखने के बाद बालकों का ध्यान पुस्तकों में छपे हुए शब्दों की ओर खींचकर उनसे पूछना चाहिये कि वे अलग-अलग हैं या पास-पास। उन्हें छोटे-छोटे वाक्य ज़बानी लिखाइये और लिखते समय देखिये कि खेल का क्या परिणाम आया है और कितनी कमज़ोरी रह गई है।

वाक्यों के चुनाव में वस्तु का भी विचार करना आवश्यक है। यदि बालक लेखन के साथ-साथ अर्थ में भी रस लेते जायें, तो वस्तु का चुनाव अवश्य ही उपकारक होगा।

आरम्भिक वाक्य इस तरह के हों कि उनमें विभक्ति आदि की भूलें पैदा करने वाली वस्तु न रहे। प्राथमिक खेल में सामाजिक शब्द, दो क्रियाओं वाले क्रियापद, प्रत्यय या उपसर्ग वाले शब्द, आदि भुलावे में डालने वाले शब्दों को स्थान नहीं देना चाहिए।

इस खेल के अतिरिक्त लाभों की ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए। वाचन और लेखन इसका अतिरिक्त लाभ है। हिज्जों की ओर अप्रत्यक्ष रीति से बालकों का ध्यान जाता है, यह भी एक विशेष लाभ है।

## ५
# सुन्दर लेखन

अक्षर सुन्दर बनाने के लिए विद्यार्थियों से कॉपीबुक लिखवाई जाती है। हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इससे वास्तव में अक्षर अच्छे बनते हैं। उलटे, आजकल हमारे अक्षर दिन-प्रतिदिन कम अच्छे बनते जा रहे हैं। कॉपीबुक भी परीक्षा का एक विषय है, इसलिए शिक्षकों और विद्यार्थियों को, जैसे-तैसे, अच्छे अक्षरों का परिणाम दिखाने-भर की ही चिन्ता रहती है। जो विद्यार्थी अच्छी कॉपी नहीं लिख सकता, उसे दूसरे विद्यार्थियों की सहायता मिल जाती है। कॉपीबुक से कदाचित् कॉपीबुक में छपे हुए अक्षर-मात्र लिखने के लिए हाथ जम जाता है, लेकिन उससे यथेच्छ और जिस किसी भी आकार के अक्षर लिखने की शक्ति प्राप्त नहीं होती। वास्तव में तो अच्छे अक्षरों के लिए ऐसी शक्ति ही आवश्यक है। घोटने से अक्षर अच्छे बन सकते हैं, पर कॉपीबुक में इस सिद्धान्त की रक्षा नहीं होती; क्योंकि घुटाई के लिए जिस एक चौकस मरोड़ पर अनेक बार हाथ घूम जाना चाहिए, वह कॉपीबुक में सम्भव ही नहीं। कॉपीबुक में तो केवल अमुक अक्षर लिखने को मिल जाते हैं। खड़िया से या पेन से पट्टी पर अक्षर लिखने में लिखने का जो पुनरावर्तन होता है, कॉपीबुक के लेखन में वह भी नहीं है; क्योंकि खड़िया के अक्षर रोज़-रोज़ नये लिखे जाते हैं और इस तरह उन अक्षरों का अनेकानेक बार पुनरावर्तन हो जाता है। कॉपीबुक लिखने में, अक्षरों की खराबी से बचने के लिए, बहुत ही धीमे-धीमे और बिना धब्बा डाले लिखना पड़ता है। हिल जाने या बिगड़ जाने पर उसे रबड़ से मिटा डालना पड़ता है। इससे लेखन में भूल बिलकुल न पड़ने देने का हेतु होने से हाथ रुक-रुककर और डरते-डरते काम करता है। इससे लिखने में जो उन्मुक्तता और उन्मुक्तता के साथ अचूकता और सुन्दरता आवश्यक होती है, वह प्राप्त ही नहीं होती। जब बार-बार बिगाड़कर अच्छा बनाने की छूट होती है, तभी खराब से अच्छे की ओर जाया जाता है। जहाँ आरम्भ ही से न बिगाड़ने का नियम होता है, वहाँ चेतनहीन, स्वतन्त्र क्षमताहीन जड़ता आ जाती है, और वह उतनी ही मर्यादा में रहती है। साथ ही, जिन बालकों को लिखना आ गया है, पर जिनके अक्षर अच्छे नहीं बने हैं, उनसे भी बाद में, अक्षर सुधारने की इच्छा से, कॉपीबुक लिखवाई जाती है। आजकल लगभग सभी बालकों के अक्षर अच्छे नहीं होते, क्योंकि हमारी अक्षर सिखाने की रीति ही अक्षरों को बिगाड़ने वाली है। पहले बालकों को खराब अक्षरों के मार्ग पर जाने देना और फिर कॉपी लिखवाकर सुधरवाना 'द्राविड़ी प्राणायाम' करने के समान है। पहले ही से अच्छे अक्षर लिखाने की और बिगड़ने के बाद सुधरवाने की रीति में से कौनसी रीति अच्छी है, सो कहने की आवश्यकता नहीं। अक्षर बिगड़ने के बाद कॉपीबुक पर जो श्रम और धन व्यय किया जाता है, उतना श्रम और धन पहले ही से व्यय किया जाय, तो कैसा हो? यदि हम आरम्भ ही से अच्छे अक्षरों का उपाय करें, तो कॉपीबुक अपने आप ही हट जाय।

अक्षर अच्छे बनाने के लिए दो प्रकार की योग्यता आवश्यक है। एक, अक्षर के अच्छे आकार का खयाल या अनुभव और दूसरे, अक्षर लिखने में अंगुलियों की अर्थात् हाथ की क्षमता। आज हम अक्षरों का ज्ञान कराते हैं, पर अच्छे अक्षरों का नहीं कराते। बालक के सम्मुख आरम्भ ही से सुन्दर आकार के अक्षर रखने की हमने कभी चिन्ता नहीं की। हम बालक को सिखाने के लिए पट्टी पर जो अक्षर लिख देते हैं, उनमें सुघड़ता की ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। छपे हुए अक्षरों की सहायता से अथवा अक्षरों के पत्तों या ताश से हम बालकों को अक्षर सिखाते हैं। ये अक्षर कितने कुरूप होते हैं, इसकी प्रतीति के लिए एक बार फिर से उन्हें देख जाइये। अतएव सबसे पहले हमारा ध्यान आरम्भ ही से बालकों के सामने सुन्दर अक्षर रखने की ओर जाना चाहिए।

यदि बालकों को आरम्भ ही से सुन्दर और सुगठित आकार के अक्षरों का परिचय करा दिया जाय, तो वे वैसे ही अक्षर लिखने लगेंगे। आँख से होने वाला अक्षरों का अनुभव अधूरा है। इसके साथ ही स्पर्श द्वारा अनुभव कराने से भी उनका परिचय स्पष्ट और पूर्ण बनेगा। अक्षर सीखने की उम्र वाले नन्हें बालकों की आँखें कच्ची या अविकसित होती हैं, जब कि उनका

स्पर्श अधिक तीव्र होता है। अतएव ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि बालक अक्षरों की सतह को छूकर उनका सम्पूर्ण परिचय प्राप्त कर सके। इसके लिए या तो रेती में बनाये हुए या तख्ते पर बिछी हुई धूल में बनाये हुए या रेजमाल के बने हुए अक्षरों पर अँगुली घुमाकर बालक उनका परिचय प्राप्त करे। कैसी भी खुरदरी सतह वाले अक्षर उपयोगी हो सकते हैं। अलबत्ता, ये अक्षर बार-बार आकार में बदलते न रहने चाहिये। बालकों के सामने आरम्भ से अन्त तक एक ही से सुन्दर आकार के अक्षर आने चाहिये। आकार के बार-बार बदलने से स्पर्श पर और उसके द्वारा मस्तिष्क पर एक निश्चित आकार की छाप न पड़ने से फल यह होगा कि किसी एक आकार की छाप मस्तिष्क पर नहीं पड़ पायेगी। बार-बार बदलते रहने वाले आकार के कारण दिमाग पर एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार तरह-तरह की छाप पड़ती है, जिससे मूल अक्षर की छाप विकृत हो जाती है।

मन में रमने वाली अक्षर की छाप को बराबर बाहर व्यक्त करने के लिए हाथ और अँगुलियों में पेन्सिल या क़लम पकड़ने की और उसे बराबर चलाने की क्षमता चाहिये। यह क्षमता पैदा करने से पहले ही, अर्थात् अक्षर-शिक्षण के आरम्भ के साथ ही, क़लम का व्यवहार करना पड़ता है। क्षमता-हीन हाथों से अक्षर खराब ही लिखे जाते हैं। अतएव एक ओर अक्षर घुटवा कर अक्षरों का परिचय कराना चाहिये और दूसरी ओर पेन्सिल या पेन का विविध व्यवहार कराकर हाथ की क्षमता पैदा की जानी चाहिये। इसके लिए बालक को रेखा द्वारा आकृतियाँ पूरना सिखाना चाहिये। पट्टी या काग़ज़ पर भौमितिक आकृति बनाकर बालक को उसके अन्दर रेखायें खींचने को कहा जाय, तो वह घण्टों खींचा ही करेगा। इस विधि से उसका हाथ बराबर स्थिर बनेगा और इच्छित आकार बना देने की क्षमता प्राप्त करेगा। रेखांकन के इस पहलू पर पहले विस्तार से लिखा जा चुका है।



# ६
# पत्र-लेखन

हमारे यहाँ पत्र-लेखन की कला अभी अविकसित ही है। जब हम दूसरे देशों के व्यापारियों, राजनीतिज्ञों, शिक्षा-विशारदों, मित्रों आदि के पत्र पढ़ते हैं, तब हमें अपनी इस कमज़ोरी का पता चलता है। हमारी शालाओं में पत्र-लेखन का विषय है तो सही, लेकिन उसमें अधिकांश पुराने ढंग के पत्र-लेखन की बातें ही अब तक सिखाई जाती हैं। जैसे, पत्र का आरम्भ कैसे करना, अन्त कैसे करना, किसे, कितनी श्री लिखना, इत्यादि। थोड़े-बहुत पत्रों के नमूने रट लेने में ही आज तो पत्र-लेखन-शिक्षा की समाप्ति हो जाती है। परीक्षा के समय, या वैसे भी, हर एक बालक के पत्र में अथ से इति तक एक ही तरह की बातें पाई जाती हैं। यह रटी हुई विद्या बाद में भूल जाती है। फलतः हमारे सामने अधिकांश पत्र भद्दे ढंग से लिखे हुए ही आते हैं।

जब से दूसरे देशों के पत्र हमारे देखने में आये हैं, तब से पाठशाला में ही नहीं, किन्तु व्यवहार में भी पत्र-लेखन अच्छा होता जा रहा है। अंग्रेजी पत्रों से हम बहुत-कुछ ग्रहण करने लगे हैं, जिससे पत्र के शीर्षक में और अन्त में औचित्य के साथ-साथ विविधता भी बढ़ती जा रही है। पुरानी चाल के लम्बे शीर्षक नये लेखकों की लिखावट में कहीं नहीं पाये जाते। ब्याह-शादी और ओसर-मोसर आदि में अब भी पुरानी पत्र-लेखन-शैली का व्यवहार होता है और व्यापारियों ने भी अभी तक पुरानी चाल ही पकड़ रक्खी है।

जिस प्रकार हमारे पत्र-लेखन के शीर्षक में परिवर्तन हुआ है, उसी प्रकार लिखने की शैली में भी हुआ है। प्रत्येक पत्र-लेखन किसी एक ही प्रणाली का अनुसरण नहीं करता; वह केवल समाचार लिखकर ही नहीं रह जाता, बल्कि अपनी विशिष्ट लेखन-शैली द्वारा अपने विचार प्रकट करता है। इससे पत्र पढ़ने में आनन्द की वृद्धि होती है। पत्र-लेखन व्यवहार का साधन तो है ही, अब वह कलाकृति का रूप भी धारण करने लगा है।

भाषा-ज्ञान और भाषा की रसिकता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसका प्रतिबिम्ब पत्रों पर भी पड़ता है। अब दिल को ललचाने वाली, सादी, भावपूर्ण और ज़ोरदार भाषा में पत्र लिखे जाने लगे हैं। इन पत्रों में भी सावधानी के साथ शब्दों का व्यवहार करने वाले अपने पत्रों को बहुत शक्तिशाली बना देते हैं।

कुछ मित्र पत्र लिख-लिखकर अपनी पत्र-लेखन-शक्ति का विशेष रूप से विकास करते हैं। कुछ लोग जैसे कहानी के रूप में लेख लिखा करते थे, वैसे अब पत्रों के रूप में भी लेख लिखने लगे हैं।

साथ ही, अब पत्र-लेखन में उसके आस पास के पहलू पर भी ध्यान जाने लगा है। जिस किसी कागज़ पर, जैसी-तैसी स्याही से, जिस किसी भी तरह अथ से इति तक लिखे जाने वाले पत्र अब छिपते जाते हैं। और उनके स्थान पर कागज़, रंग, आकार-प्रकार, स्याही, आलपीन आदि के चुनाव में रुचि बदलती, बढ़ती और परिष्कृत होती जा रही है। तारीख और शीर्षक आदि के स्थान में भाँति-भाँति के परिवर्तन हो रहे हैं; नये-नये नमूनों का आविष्कार किया जा रहा है। कई लब्ध-प्रतिष्ठ, साहित्य-रसिक कलाविद् सज्जन अक्षरों की मरोड़ और स्थान की सजावट आदि में खूब तरक्की और विकास कर रहे हैं।

परिणाम यह हुआ है कि जो साहित्य-रसिक हैं, ज़रा विशाल दुनिया के पत्र-लेखन से परिचित हैं, वे अपनी पत्र-लेखन-कला में उन्नति करने लगे हैं। फलतः समय-समय पर अब हम ऐसे पत्र भी पा सकते हैं, जिन्हें चिट्ठीरसे के हाथ से झट अपने हाथ में लेने की इच्छा होती है, और जिन्हें एक प्रकार के आनन्दानुभव के साथ अथ से इति तक बार-बार पढ़ जाने को जी चाहता है।

लेकिन इस प्रकार के पत्र लेखन का क्षेत्र अभी बहुत सीमित है। कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे साहित्य-रसिक और कलाप्रिय स्त्री-पुरुष ही इस कला की उन्नति कर रहे हैं। अधिकांश जनता तो आज भी वही पुराने ढंग के भद्दे पत्र लिखती है, जो कभी पढ़ने को मिल जायें, तो बड़ी मुश्किल से पढ़ने का जी हो। कारण यह है कि अभी नवीन पत्र-लेखन को पाठशालाओं में स्थान



नहीं दिया गया है। पाठशालाओं में तो, इस ज़माने में भी, वही पुरानी रीति चालू है, और उस पर भी कोई खास ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आज तो यह विषय एक व्यर्थ का विषय बन गया है।

अब पाठशाला में पत्र-लेखन के विषय का नये ढंग से श्रीगणेश किया जाना चाहिये और उसे भाषा, वस्तु और कला इन तीनों दृष्टियों से विद्यार्थियों के सम्मुख उपस्थित करना चाहिये।

भाषा का विषय भाषा-शिक्षण के साथ सम्बद्ध है, और रहेगा। फिर भी पत्र-लेखक की भाषा न तो निबन्ध की भाषा है, न पुस्तक की ही; वह व्याख्यान की भाषा भी नहीं है। अपने से दूर गये हुए या दूर रहने-वाले आदमी के साथ वार्त्तालाप करने लिए पत्र की हस्ती है, तिस पर भी टेलीफोन की तरह नहीं है। अर्थात् पत्र की भाषा मौखिक होते हुए भी लेखन की शोभा बढ़ाने वाली होनी चाहिये। भाषा ऐसी होनी चाहिये कि पढ़ने वाले को स्थान की दूरी न खटके। फिर, भले पत्र की शैली वर्णनात्मक हो, चर्चात्मक हो या व्याख्यानात्मक हो।

पत्र की वस्तु तो वही है, जो लेखक कहना चाहता है। वस्तु के लिए कोई नियम नहीं हो सकता। परन्तु वस्तु स्वाभाविक होनी चाहिये, आन्तरिक होनी चाहिये। लिखने के लिए लिखी हुई नहीं होनी चाहिये। अर्थात् वस्तु सृजन-रूप होनी चाहिये। पत्र-व्यवहार का उद्देश्य यह हो सकता है कि मनुष्य परस्पर दूर रहते हुए भी निकट आएं, और इस प्रकार एक-दूसरे को अधिक समझें। इसलिए पत्र बनावटी तो कभी न होना चाहिये। व्यवसाय-विषयक पत्र-हो, या प्रेम-पत्र हो, होना चाहिये सच्चे दिल से लिखा हुआ। वस्तु के इस विचार की ओर छात्रों का ध्यान जाना चाहिये।

पत्र-लेखन में कला की रक्षा के लिए सुन्दर अक्षरों का शिक्षण प्रथम आवश्यक है। छापे के अक्षर ही सुन्दर कहलाते हों, सो नहीं। अक्षर वे सुन्दर हैं, जो मरोड़दार, स्पष्ट, एक-सा, चौकस और आँखों को लुभाने-वाले हों। शब्दों को अलगाकर लिखना और उचित कण्डिकायें बनाते जाना, सुलेखन का विषय है और उसमें आ जाना चाहिये। कण्डिकाओं के शास्त्र में उन्नति

करने की बड़ी आवश्यकता है। वाचन फुर्ती के साथ होना चाहिये। प्रत्येक विचार पढ़ने वाले के सामने साफ-साफ और चौकस रूप में आ जाना चाहिये। पैरा या कण्डिका बनाने की कला से यह विभाग अच्छा बन जाता है। प्रत्येक विचार के लिए कण्डिका आवश्यक है। कण्डिकायें जितनी अधिक, वाचन उतना ही सरल और त्वरित बनता है।

पत्र-लेखन के साथ काग़ज़ का चोखापन, लिफाफे और काग़ज़ के आकार का मेल, बन्द करने की खूबी, सुन्दर शीर्षक आदि में भी उन्नति करनी चाहिये और यह सब पाठशालाओं में सिखाया जाना चाहिये।

इसके लिए पहले तो उत्तम पत्र- लेखन-पोथियां बालकों के सामने इतर वाचन की तरह रक्खी जानी चाहिये। ऐसी पुस्तकें अभी हमारे शहरों में तैयार नहीं मिलेंगी, अतएव शिक्षकों को अपनी पाठशाला के लिए तो स्वयं लिखकर तैयार कर लेनी चाहिये। नमूने की इन पोथियों में विविध पत्र हों और वे सुन्दर शैली में लिखे गये हों।

साधारण और महान्, छोटे और बड़े पुरुषों के असली और सुन्दर पत्रों के संग्रह जब तक छपे हुए रूप में उपलब्ध न हों, तब तक शिक्षक उनका भी संग्रह करे और बालकों को पढ़ने के लिए दें।

इस प्रकार का इतर वाचन पत्र-लेखन के लिए अच्छी तैयारी का काम करेगा। इसके अलावा, कक्षा में पट्टी पर पत्र लिखने की अपेक्षा बालकों को यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वे एक-दूसरे के नाम वास्तविक पत्र लिखें और उन्हें परस्पर पढ़ें-पढ़ाएं। स्वयं शिक्षक भी प्रतिदिन भिन्न-भिन्न बालकों के नाम दो-चार पत्र लिखा करें।

यह भी किया जा सकता है कि हर एक बालक किसी-न-किसी के नाम प्रतिदिन एक पत्र लिखे और उसे पाठशाला में रक्खी हुई एकाध पत्र पेटी में डाल दिया करे और शाम को कोई एक विद्यार्थी पेटी खोलकर पत्रों को डाक की तरह बांट दिया करे। इस विधि से पत्र लिखने और पढ़ने का सच्चा अनुभव होगा।



पते आदि के लिए पाठशाला में सुन्दर पतों वाले आदर्श कार्डों और लिफाफों के नमूने रखने चाहिये। किसी के अच्छे नमूनों का संग्रह भी रखना चाहिये। बालक उन्हें देखें और देखकर अपने लिफाफों और कार्डों पर सुन्दर पते लिखने का प्रयत्न करें।

पत्र का मजमून लिखने के बारे में छात्रों को उनकी इच्छा पर छोड़ देना चाहिये। वे जो उचित समझें, लिखें। अपने पत्रों में यदि वे अपनी बातें, छोटी-मोटी बातें भी, अपने दृष्टि-बिन्दु से लिखेंगे, तो वही अच्छा पत्र-व्यवहार होगा और वही सच्चा पत्र-साहित्य होगा। उसी से वे सच्चे पत्र-लेखक बनेंगे।

## ७
## निबन्ध-लेखन

हमारी प्राथमिक पाठशालाओं में निबन्ध-लेखन का शिक्षण बरसों से जारी है और यह निम्बध-लेखन दूसरे सब विषयों से अधिक कठिन माना गया है। हिन्दी में इस विषय का परिचय कराने वाली 'रचना-प्रबन्ध', 'निबन्ध-रचना', 'रचना-चन्द्रोदय' आदि छोड़ी-बड़ी अनेक पुस्तकें निकली हैं, जिससे निबन्ध-लेखन के कुछ अंगों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विद्यार्थी इन पुस्तकों से निबन्ध-लेखन के नियम याद रख सकते हैं। 'निबन्ध-माला' आदि पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। इन में भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गये तैयार निबन्ध हैं। विद्यार्थी इन निबन्धों को अधिकतर बार-बार पढ़ कर या रटकर सीखते हैं। कुछ होशियार विद्यार्थी निबन्धों का सार ध्यान में रखकर निबन्ध लिखते समय उसका अच्छा प्रयोग कर लेते हैं। मिडिल पास करने के बाद 'रचना प्रबोध' के नियम 'रचना-प्रबोध' ही में रह जाते हैं। रटी हुई वस्तु शनैःशनै बिसर जाती है और निबन्ध-रचना सीखे हुए विद्यार्थी का निबन्ध-लेखन शिक्षक और विद्यार्थी दोनों को लजाने वाला रह जाता है। यह स्थिति बिलकुल स्वाभाविक है। यह तो एक प्रकट रहस्य है कि अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे छात्रों को अपनी मातृभाषा

में शुद्ध-शुद्ध लिखना नहीं आता। पर जिन्होंने ट्रेनिंग कॉलेजों में तीन-तीन साल तक मातृभाषा का अभ्यास किया है, उन सीनियर शिक्षकों का भी लेखन देखकर मन में दु:ख होता है; मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। हम अपने आसपास दृष्टि डालें, तो हमें क्या दीखेगा? ऐसे सुशिक्षित लोगों की संख्या कम नहीं है, जो पढ़ सकते हैं, पढ़कर समझ सकते हैं, पढ़ने में दिलचस्पी ले सकते हैं, पढ़े हुए लेख पर अच्छा-सा विवेचन कर सकते हैं, और उस पर आलोचना भी लिख सकते हैं। वे लिखना जानते हैं, विचार प्रकट करना जानते हैं, उन्हें फुरसत भी रहती है, संकल्प-बल भी उनमें होता है; फिर भी वे कहते हैं कि हम लेख तो नहीं लिख सकते। उनके साधारण लेख देखने पर, कुछ बातों को छोड़ दें, तो वे क्वचित् ही उपयोगी प्रतीत होंगे। आप किसी मासिक-पत्र के संपादक के कार्यालय में जाकर बैठ जाइये। आपको पता चलेगा कि ढेरों लेख उस पर बरसते रहते हैं। लेकिन उन में कुछ ही लेख होते हैं, जिन्हें वह स्वीकृत कर सकता है; और स्वीकृत लेख भी हम पढ़ने बैठते हैं, तो बहुधा कह उठते हैं कि न तो इन लेखों में भाषा का बल है, न विचारों की शक्ति। भला, सम्पादकजी ने ऐसे लेख पसन्द क्यों किये होंगे? अपनी भाषा में प्रकाशित होने वाली अनेकानेक पुस्तकों को हम ज़रा ध्यान से देखें, तो हमें निराश होना पड़े। मौलिक लेखों का अभाव भी इस बात का एक प्रमाण है।

इस परिस्थिति का कारण निबन्ध-लेखन की शिक्षा है। निबन्ध-शिक्षण पर यह कोई नया और साधारण आक्षेप नहीं है। प्रश्न यह है कि निबन्ध-शिक्षण का किया क्या जाय? वह खराब है, इसलिए उसे सुधारना चाहिये या वैसे शिक्षण के कारण भाषा के प्रदेश में मौलिक सृजन की शक्ति कुण्ठित होती है, इसलिए उसे पाठशाला से हटा ही देना चाहिये?

इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम थोड़ा यह जान लें कि निबन्ध क्या है और वह किस तरह प्रकट हो सकता है। फिर देखें कि पाठशाला में उसके लिए स्थान है या नहीं।

कुछ भी तो लिख लेना निबन्ध नहीं है। टाइप राइटर लिखता है, लघु-लेखक भी दूसरों को सुनकर लिखता है, मुनीम लिखता है, मुहर्रिर लिखता है



और छापाखाने का कम्पोजीटर भी लिखता है। लेकिन इसी कारण उनका लिखा हुआ निबन्ध नहीं कहलाता, सो तो स्पष्ट ही है। पर व्यापारी व्यवसाय-सम्बन्धी पत्र लिखता है, मित्र अपने मित्र को आन्तरिक उद्‌गारों से पूर्ण प्रेम-पत्र लिखता है, यात्री अपनी यात्रा के अनुभव अपने रोज़नामचे में लिखता है और शिक्षक नौकरी या तरक्की के लिए प्रार्थना-पत्र लिखता है, यह सब लेखन, निबन्ध-लेखन है। यह कथन थोड़ा विचित्र तो लगेगा, पर क्षण-मात्र के लिए ही।

निबन्ध की अनेक व्याख्यायें की गई होंगी। मैंने वैसी व्याख्यायें रटी भी होंगी, पर आज उन्हें भूल गया हूँ। अतः मैं एक-दो नई व्याख्यायें बनाये लेता हूँ। निश्चय अथवा निर्णयपूर्वक ठहराये हुए विचारों को लिखकर व्यक्त करना निबंध है। अथवा अपने विचारों को यथानियम व्यक्त करना, निबन्ध है। जो कोई भी मनुष्य अपने हृदय के विचारों को व्यवस्थित रीति से लिख सकता है, उसे मैं निबन्धकार या लेखक कहता हूँ। फिर, वे विचार व्यापारी की चिट्ठी में हों, मित्र के पत्र में, वकील के अभियोग-पत्र में हों या न्यायाधीश के निर्णय में हों। लोगों को आज इतना भी अच्छी तरह लिखना नहीं आता, और फिर भी शिक्षा संस्थायें निबन्ध-शिक्षण का मोह नहीं छोड़तीं। निबन्ध-शिक्षण में सुधार करने का अर्थ है, उसे शिक्षा के क्रम से हटा देना; यही अर्थ रखना पड़ेगा, यही मैं किया चाहता हूँ। लेकिन ऐसा क्यों? क्योंकि पाठशाला प्रत्यक्ष रीति से निबन्ध-लेखन की शिक्षा नहीं दे सकती और न उसका वह क्षेत्र ही है। पाठशाला बहुत हुआ तो उस शिक्षण की व्यवस्था कर सकती है, जो निबन्ध-लेखन की भूमिका के रूप में आवश्यक है। उसे यही करना चाहिये—इससे अधिक करे, तो नुकसान कर बैठे!

निबन्ध में आन्तरिक विचार एक मुख्य वस्तु है और विचारों की स्पष्टता दूसरी आवश्यक वस्तु है। विचारों की स्पष्टता का अर्थ है, चौकस विचार करने की निर्मल बुद्धि। निर्मल बुद्धि के तत्वों में वस्तु का चुनाव, वर्गीकरण, तुलना, निर्णय और प्रस्ताव प्रमुख हैं। और, आन्तरिक विचारों को प्रकट करने की रीति निबन्ध-लेखन की तीसरी मुख्य वस्तु है। विचारों का गूंथन, यथाक्रम सजावट, संतुलन सुसंगति, सप्रमाणता आदि कला के अंग हैं और ये

आन्तरिक विचारों या विचारों की स्पष्टता के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह सब 'निबन्ध-रचना' में दिये गये नियम रट लेने से या नमूने के निबन्धों को याद कर लेने से नहीं आता। पाठशाला जब निबन्ध सिखने बैठती है, तो विद्यार्थी को निर्जीव नियम सुनाकर कहती है, पहले विषय का वर्णन करो, फिर विषयगत विचारों को बुनो, आदि-आदि ! लेकिन इससे क्या होता है ? इससे कहीं आन्तरिक विचार व्यक्त होते हैं ? आन्तरिक विचारों के प्रकट होने का प्रयोजन भी क्या है ? और, चौखट की तरह जकड़े हुए कतिपय नियमों से कहीं मानसिक शक्ति का विकास भी हुआ है ? उससे तो जड़ता की वृद्धि होती जाती है।

निबन्ध-लेखन को किसी भी प्रकार सफल बनाने के लिए जो अनेक और भांति-भांति के प्रयत्न किये जा रहे हैं, उन्हीं से प्रकट है कि इस प्रकार के निबन्ध-लेखन का शिक्षण तो पाठशाला को त्याग ही देना चाहिये। चित्र की सहायता से निबन्ध-लेखन आरम्भ करने के लिए विलायत में पुस्तकों का उपयोग किया जाता है और उनकी नक़ल हमारे यहाँ भी होने लगी है। चित्र के आधार पर कहानी लिखने का शिक्षण भी निबन्ध-लेखन की ही सहायता के लिए है। कहानी कहकर विद्यार्थी से पुनः सुन लेना भी निबन्ध-लेखन की तैयारी का ही एक प्रकार है। कुछ होशियार मनुष्यों ने कहानी के शिक्षण को निबन्ध-शिक्षण के साथ बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि द्वारा जोड़ दिया है। निबन्ध-लेखन को अच्छा बनाने के लिए इधर-उधर इतर वाचन बढ़ाने की पुकार भी सुनाई पड़ने लगी है। कहीं-कहीं निबन्ध-लेखन के सफल शिक्षण के लिए शिक्षक विद्यार्थियों से पाठों का सार निकलवाते हैं और इस प्रकार थोड़े विचारों से अधिक विचार तैयार करने की और अधिक विचारों को थोड़े में लिखने की कसरत करवाते हैं। निबन्ध-लेखन में, प्रसंगानुसार, स्थान-स्थान पर बिखेरने के लिए, बहुतेरे विद्यार्थी शिक्षक की सलाह से अनेक सूक्तियाँ और सुभाषित भी रट लिया करते हैं। फिर भी प्रकृत निबन्ध-लेखन तो उनसे दूर ही दूर रहता है !

इसका उपाय क्या है ?



ऊपर कहा जा चुका है कि निबन्ध-लेखन में मुख्य वस्तु आन्तरिक विचार हैं। एक तो विचार निज के होने चाहिये और दूसरे, वे अन्तस्तल से आवेश के रूप में निकलने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य में विचारों की मौलिकता नहीं होती, और न विचार-जगत् में सदा-सर्वदा नया-नया उत्पन्न ही होता रहता है। अतएव निज के विचारों का यही अर्थ किया जा सकता है कि वे विचार अपने अनुभव से निकले हों या दूसरों से लेकर आत्मसात् कर लिये गये हों, स्वयं पचा लिये गये हों। दूसरों के विचारों को बराबर समझकर, उनकी सच्चाई-झुठाई को तौलकर, यदि हम उन्हें स्वीकार कर सके हों, तो वे हमारे निज के ही विचार कहे जा सकते हैं। जो विचार हमें हज़म हो चुके हैं, जिन विचारों के गर्भ में रहे हुए अनुभव हमें बाद में भी हुए हों या हो रहे हों, जिन विचारों के सत्य-असत्य को हम आन्तर या बहिर् जगत् में देखते हों, वे विचार किसी समय दूसरे के रहते हुए भी आज तो हमारे ही हैं। निबंध-लेखन में हम ऐसे विचारों का उपयोग कर सकते हैं। दूसरों के विचारों के साथ हमारा अनुभव सोलहों आना मिल जाता हो, तो उन विचारों को हम अवतरण द्वारा या स्वतन्त्र रीति से व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु जो विचार हमारे अपने नहीं हैं, जिन विचारों को हमारी भावना ने कभी पहचाना नहीं, वे विचार हमारे निबन्ध-लेखन में व्यर्थ हैं। अब हम यह समझ सकते हैं कि क्यों अधिकांश लेखकों के अपने विचार होते ही नहीं। यही कारण है कि वे यत्र–तत्र भटकते हैं और निरर्थक अथवा निरुपयोगी साहित्य को जन्म देते हैं। विद्यार्थियों को अपने विचार नहीं, बल्कि 'रचना-प्रबोध' के विचार लिखने पड़ते हैं। दया, नीति, अहिंसा, सत्य, स्वाभिमान, स्वदेशाभिमान, ब्रह्मचर्य, आदि विषयों पर मिडिल के विद्यार्थी जब निबन्ध लिखने बैठते हैं, तो बताइये कि अपने या दूसरों के ही सही, आत्मसात् किये हुए ऐसे किन अनुभवों पर वे लिखेंगे ? और, फिर निबन्ध-लेखन में गड़बड़ घोटाला न होगा, तो क्या होगा ?

वास्तव में तो जिसके अपने कोई विचार नहीं, उसे लिखने की जरूरत ही नहीं। उसे लिखना भी न चाहिए। वैसा प्रयत्न करके उपहासास्पद बनने की आवश्यकता भी नहीं। लेकिन यदि आदमी के पास अपने हृद्गत

विचार हों, तो वह उन्हें व्यक्त कर सकता है ; वे व्यक्त हो जाते हैं। फिर, वे किसी पत्र के रूप में हों या बड़ी पुस्तक के रूप में। परीक्षा के लिए तैयार किये गये निबन्ध की अपेक्षा पत्र का महत्त्व अधिक है। आन्तरिक उद्‌गारों के रूप में जो कुछ लिखा जाता है, वह सब निबन्ध-रूप है। अनुभव भी यही कहता है। यदि हम ऐसी आज्ञा प्रचारित कर दें कि जिनके हृदयों में विचार स्फुरित न होते हों, वे लिखें ही नहीं, तो निबन्ध-लेखक का काम सरल हो जाय, और साथ ही साथ आज साहित्य में जो तमाम कूड़ा-करकट इकट्ठा हो रहा है, वह भी साफ हो जाय।

निज के विचार ही आवश्यक नहीं है, यह भी आवश्यक है कि वे अन्तस्तल से आवेश-रूप में निकलें। इसका अर्थ यह है कि जिसे दूसरों को कुछ कहना है, कहने की अदम्य इच्छा जन्मी है, कहे बिना रहा नहीं जाता, वही निबन्ध-लेखन का अधिकारी है। जिन्हें कुछ कहना नहीं है, वे विद्वान् होते हुए भी जब कहने लगते हैं, तो दो कौड़ी की कहते हैं; पर एक गँवार देहाती भी जब कुछ कहना चाहता है, तो मानो साक्षात् सरस्वती उसकी जिह्वा पर बैठी हो, इस प्रकार वह अपनी बात कह जाता है। जिन्हें हम सच्चे लेखक कहते हैं, जिनके नाम साहित्य में अमर हो चुके हैं, उनके लेख पढ़ने से हमें पता लगेगा कि वे आत्मा के आँसू या आनन्द की उर्मियाँ हैं। पर जिनका आवेश कृत्रिम था, स्वार्थजन्य था, उनकी कृतियाँ भिण्डी के पौधे की तरह वर्षा बीतते ही सूख गई हैं। ईसा और बुद्ध के वचन अनन्त काल तक तद्वत् ही रहेंगे। गांधीजी लिखना कैसे सीखे ? कौनसी पाठशाला का निबन्ध-शिक्षण उन्हें लेखक बनाने का अभिमान करके अपनी मूर्खता प्रकट करेगा ? गांधीजी के पास कहने की वस्तु है, आत्मा की ओघवती पुकार है, यही कारण है कि वे जो कुछ लिखते हैं, वही साहित्य की कृति बन जाता है। उनके लेखों में निबन्ध के गुण सजीव रूप से व्यक्त होते हैं। संक्षेप में, जिसे लिखने की स्फूर्ति न हो, वह कभी न लिखे। हमारे विद्यार्थी क्या कभी स्वयंस्फूर्ति से लिखते हैं ? बहुत कम। उन्हें तो परीक्षा की स्फूर्ति होती है, विचार व्यक्त करने की नहीं।

आन्तरिक वेग के साथ आने वाले निज के विचार स्पष्ट होने चाहिये। यह स्पष्टता कैसे आ सकती है ? विचार की स्पष्टता अर्थात् निर्मल बुद्धि; अर्थात् चुनाव, वर्गीकरण, तुलना, निर्णय और प्रस्ताव करने की शक्ति। इसका आधार इन्द्रियों के उचित विकास में है। विचारों में मुख्य वस्तु अनुभव है। अनुभव इन्द्रियों और मन द्वारा हो सकते हैं। अनुभव करने के साधन जितने तीव्र, सूक्ष्म और चपल, अनुभव भी उतना ही बलवान और स्पष्ट होता है। अतएव अनुभव की तालीम निबन्ध-शिक्षण की पहली और अन्तिम सीढ़ी है। मनुष्य लिखे कैसे ? अनुभवहीन आदमी तो अपंग है। अनुभव-प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को अवलोकन की तालीम देनी चाहिए, और अवलोकन के लिए उन्हें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। जब इन्द्रियाँ और मन अवलोकन करने लगते हैं, और अवलोकन के विषयों को प्रयोग की कसौटी पर कसकर उससे सत्यासत्य का भेद जानते हैं, तब वह भेद अनुभव बनता है। यह अवलोकन, प्रयोग और अनुभव की कला स्वत: ऐसी है कि इन क्रियाओं को करते हुए मनुष्य की निर्वाचन की, वर्गीकरण की, तुलना करने की और निर्णय बाँधने की शक्तियाँ अपने आप विकसित होती हैं। ऐसे अनुभवों में मनुष्य के सच्चे विचार निहित रहते हैं, और निबन्ध ऐसे विचारों की अपेक्षा रखता है। अपने अनुभव से पक्व या दूसरों के अनुभव से उद्‌भूत किन्तु पूर्ववत् आत्मसात् किये हुए विचार निबन्ध-लेखन के लिए कच्चा सोना हैं।

सारांश यह कि निबन्ध-लेखन के शिक्षण में जिस मुख्य वस्तु की आवश्कता है, वह सच्चा अनुभव है। जिसे वस्तु का शुद्ध और उत्तम अनुभव है, वही अपने विचारों को शुद्धता-पूर्वक और उत्तम रीति से व्यक्त कर सकता है। अस्पष्टता, नीरसता आदि दोष विचारों की अशुद्धि और अपरिपक्वता के परिणाम है।

निबन्ध-लेखन की पूर्व तैयारी के रूप में कोई पाठशाला इस प्रकार की शिक्षा देती है ? उलटे, अनुभवहीन विद्यार्थियों से निबन्ध लिखाने के कारण क्या उनकी अनुभव करने की शक्ति का नाश नहीं होता ? बेल्जियम में महायुद्ध के पूर्व एक पाठशाला थी। उसका सारा शिक्षण अवलोकन, प्रयोग और अनुभव पर रचा गया था। जिस वस्तु को विद्यार्थी स्वयं देखते, पहचानते और जिस पर प्रयोग करके वे उसके तथ्य की जाँच करते, उसी पर वे निबन्ध भी

लिखते थे। यदि सचमुच उपर्युक्त रीति से अनुभव-प्राप्ति का प्रबन्ध किया जाय, तो निबन्ध-लेखन अपने-आप ही अंकुरित और पल्लवित हो उठे।

वर्तमान निबन्ध-शिक्षण के स्थान पर पाठशाला में इस अनुभव-रूपी शिक्षण का प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

अब निबन्ध-लेखन में कला के पहलू का विचार कीजिये। अनुभव हों, स्पष्ट हों और तीव्र भी हों, परन्तु यदि लेखक को यह भान न हो कि उनमें से कितने देना और कितने न देना, कितनों को गौण रूप में व्यक्त करना और किनको प्रधानता देना, और किसे किस क्रम से रखना तो सब व्यर्थ है। अत: निबन्ध-लेखन में इस प्रकार की योग्यता भी अनिवार्य है। यह योग्यता असल में तो अनुभव करने की क्रिया में ही सम्मिलित है। अनुभव करते समय एक प्रकार के चुनाव, संतुलन, आदि का विवेक रखना पड़ता है। लेकिन विवेकगत तत्त्व तो एक ही है। मानसिक विकास का उचित प्रबन्ध किया जाय, तो (यह प्रबन्ध तर्कशास्त्र के ग्रन्थों के अभ्यास का नहीं, शास्त्रीय प्रयोग का होना चाहिए,) निबन्ध का कला विषयक पहलू भी उतना ही सुन्दर बन जाय। ऐसी कला का परिचय कराने के लिए सुन्दर-सुन्दर निबन्धों की पुस्तकें भी पढ़ने को दी जा सकती हैं। कभी-कभी विचारों के समूह से एकाध कला-पूर्ण और तत्त्वसिद्ध निबन्ध भी लिखकर दिखाया जा सकता है।

लेकिन जब तक पाठशाला में निबन्ध-लेखन का अड़ंगा रहेगा, तब तक सब व्यर्थ है। निबन्ध की तैयारी पाठशाला की ऊँची कक्षाओं में की जा सकती है। बाकी, निबन्ध-लेखन तो परिणामी वस्तु है। हृदय में विचार उमड़े पड़ते हों, वे बाहर निकलने को अधीर हो रहे हों, बाहर निकलने के बाद उन्हें यथाक्रम सजाने का अभ्यास हो, तो निबन्ध-लेखन सरल है, सहज है। उसे न सिखाने की जरूरत है, न पाठशालाओं में किसी तरह की सिरपच्ची करने की आवश्यकता है।

यदि वैज्ञानिक की मेज पर हड्डियाँ, चमड़ी, मज्जा आदि इकट्ठा करके, उन्हें भली भांति सजाने और रूप-रंग चढ़ाने से, जीता-जागता आदमी बनाया जा सकता हो, तो निबन्ध-लेखन भी पाठशाला के काले तख्ते पर सिखाया



जा सकता है। निबन्ध-लेखन यांत्रिक क्रिया नहीं है। उसमें प्राण की प्रतिष्ठा करनी होती है। ये प्राण निबन्ध-रचना के नियम रटने से कैसे आ सकते हैं? प्राण तो आत्मा ही से उद्भूत हो सकते हैं और इसके लिए तो आत्म-ज्योति ही प्रकटानी होती है। कहिये, वर्त्तमान निबन्ध-शिक्षण इस ज्योति को प्रकट करता है या बुझाता है?

यदि हमारी वर्त्तमान पाठशालायें निबन्ध-लेखन की पूर्व तैयारी का ही, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, प्रबन्ध कर दें, तो वे बहुत कुछ कर देंगी।

ऊपर की इतनी चर्चा के बाद इस विषय में किसी को कोई शंका ही नहीं रहनी चाहिये कि प्राथमिक पाठशाला में तो निबन्ध-लेखन का स्थान है ही नहीं।

•

## तृतीय खण्ड : कविता-शिक्षण

## १

# कविता-शिक्षण

बालकों को भाषा सिखाने का मतलब है, उन्हें गद्य और पद्य का परिचय कराना। यह परिचय जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, भाषा का शिक्षण भी उतना ही बलवान बनेगा। परिचय के साधन दो हैं, मौखिक साहित्य और लिखित साहित्य। बचपन से बालक मौखिक साहित्य के परिचय में आता है। पढ़ने-लिखने लगने पर वह लिखित साहित्य से परिचित हो सकता है। मौखिक या लिखित साहित्य के परिचय में आजकल बालकों के सामने प्रायः गद्यात्मक साहित्य ही विशेष रूप से और प्रथम आता है, जब कि पद्य-साहित्य का परिचय देर से और कम होता है। घर में हम जो कुछ बोलते हैं, वह मौखिक साहित्य है। घर में या घर के बाहर संगीत का परिचय वाणी के परिचय की तुलना में बिलकुल ही कम मिलता है। पाठ्यपुस्तकों में गद्य-पाठों की तुलना में कविता के पाठ बहुत ही कम होते हैं।

इस वस्तुस्थिति के कारण बालक गद्य का आनन्द छोटी उम्र से ही अधिक लेने लगता है। इसी के फलस्वरूप लोगों की यह भ्रमपूर्ण धारणा हो गई है कि बालक छोटी उम्र में न काव्य समझ सकते हैं, और न उसका आनन्द ही ले सकते हैं। इसलिए उनके सामने काव्य देर से और कम मात्रा में आना चाहिये। हम बड़े-बूढ़े भी पद्य की अपेक्षा गद्य से अधिक प्रेम रखते हैं। गद्य अधिक सरल मालूम होता है, गद्य का प्रचार बहुत होता है, गद्य की सृष्टि भी बहुत अधिक होती है।

निःसन्देह तुलनात्मक दृष्टि से काव्य अधिक कठिन है। गद्य की अपेक्षा पद्य बड़ी उम्र में अधिक आनन्द दे सकता है। सारांश, यदि हम यह मान लें कि काव्य स्वयं एक उच्च भूमिका वाला सृजन है, तो उसका उपभोग भी किंचित् उच्च अवस्था में ही किया जा सकता है।

परन्तु इस विषय को छोड़कर भी यदि सीधा विचार किया जाय, तो सम्प्रति हमारा उपर्युक्त कथन ही विचारणीय ठहरता है। अर्थात्, हम बालक को गद्य का अधिक परिचय कराते हैं और पद्य का कम। फलतः आज हम पद्य में गद्य की अपेक्षा कम ही रसानुभव कर सकते हैं।

इस स्थिति को दूर करने के लिए हमें अपनी वर्त्तमान काव्य-शिक्षण-प्रणाली में सुधार करने की आवश्यकता मालूम होती है।

पहला सुधार तो हमारी इस मिथ्या धारणा को दूर करने में है कि छोटी उम्र में काव्य का परिचय नहीं कराया जा सकता। विचार करके देखने से हमारा यह भ्रम मिट जायेगा। साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें पता चलता है कि गद्य से पहले पद्य था। वाणी ने पहला स्वरूप कविता द्वारा धारण किया। हमारे लोग गीत और 'इलियड', 'रामायण', महाभारत,' आदि महाकाव्य प्रथम पद्य के ही नमूने हैं। साहित्य लेखक के आविष्कार की प्रतीक्षा नहीं कर सका। साहित्य, अर्थात् सर्जनात्मक वृत्ति का एक व्यक्त स्वरूप। यह वृत्ति तो उस समय से है, जब मनुष्य बोलना भी नहीं सीखा था। वाणी के साथ वह वाङ्मय-रूप में प्रकट हुई। प्राचीन लोगों का वाङ्मय प्रथमतः काव्यों का वाङ्मय था। काव्य एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक सरलतापूर्वक जा सकता है। मौखिक पद्धति से इसका अभ्यास केवल सरल है। काव्य अपनी गेयता के कारण स्मृति-पट पर अधिक सरलतापूर्वक आरूढ़ हो जाता है। प्रास और छन्द के बन्धन के कारण अथवा तद्गत पुनरावर्तन के कारण काव्य एकसम और शृंखलित रहता है, और फलतः वह परम्परा-रूप से विरासत में मिलने के अधिक उपयुक्त है।

प्राथमिक लोगों का साहित्य-भण्डार काव्यमय था। काव्य द्वारा वे अपनी कुशलता और अज्ञान को व्यक्त करते थे। काव्य द्वारा वे अपने स्वप्न और इतिहास को व्यक्त करते थे। काव्य में वे अपनी महत्त्वाकांक्षा और

लघुता प्रकट करते थे। काव्य में वे शोक, मोह, प्रेम आदि का संग्रह करते थे। अकेला काव्य ही उनका संग्रह-स्थान था, वही उनका इतिहास-लेखन भी था। यह काव्य लोक-जीवन की जीती-जागती शाला में प्रकट होता था और आबाल-वृद्ध इसमें जी-जी कर इसे जानते, सीखते और इसमें से नये-नये काव्य रचने की प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह प्राचीन काव्य, अर्थात् हमारे लोकगीत और लोककाव्य। मानव-जाति की बाल्यावस्था साहित्य का परिचय कविता द्वारा सिद्ध करती थी; आज भी बाल्यावस्था साहित्य का परिचय काव्य द्वारा ही चाहती है और उसे वही मिलना चाहिये।

जहाँ माता लोरियाँ गाती है और बालक सो जाता है; जहाँ माता पीसते, खाँडते, सीते, पिरोते, गाते, बजाते गीत गाती है और बालक उसके चहुँ ओर चक्कर लगाता है; जहाँ पिता पूजा करते हुए स्तोत्र गाता है और बालक सामने शान्ति से बैठकर सुनता है, वहाँ बालक को लोक गीत का या कविता का परिचय मिलता है, वहीं उसे कविता-शिक्षण भी प्राप्त होता है।

जैसे-जैसे हम प्राचीन काल की ओर जाते हैं, हमें पता चलता है कि इसी प्रकार का काव्य-परिचय बालक को रस और वस्तु से परिपूर्ण करता था। आज भी जहाँ इस मौखिक साहित्य के सजीव अवशेष हैं, वहाँ बालक उनके रस में भीग रहा है। लेकिन आज की दुनिया बदल रही है। लोग गीतों पर विस्मृति का पर्दा गिर रहा है। ज्यों-ज्यों हमारी रहन-सहन बदल रही है, मालूम होता है, त्यों-त्यों लोक गीत के रहने का स्थान भी छिन रहा है। चक्की के साथ लोकगीतों की जोड़ी थी; पनचक्की के साथ वे नहीं रह सकते। वे चूल्हों के साथ रहते थे, प्राइमस के साथ कैसे रह सकते हैं? तथापि लोकगीतों को छोड़ा नहीं जा सकता। और, यदि काव्य- शिक्षण में से उन्हें निकाल लें, तो जो गति बिना नींव के मकान की होती है, वही कविता-शिक्षण की होगी; फिर भले कल्पना में हम यथेच्छ विहार क्यों न किया करें?

अतएव काव्य-शिक्षण में पहली वस्तु लोक-गीतों का परिचय है। बाल-मनुष्य के गीतों द्वारा ही बालक का कविता-शिक्षण हो सकता है। वह विचार कितना सच्चा है, सो तो अनुभव द्वारा स्पष्ट जाना जा सकता है। बालकों के सम्मुख लोकगीत रखिये और अपने मन की शंका का समाधान कर



लीजिये। बाल्यावस्था के काव्य-परिचय में मुख्य वस्तु काव्य की गेयता, डोलन, ताल की स्पष्टता और उचित वस्तु का चुनाव है। सब लोकगीतों में गेयता होती है; सब काव्य अकेले गेय हैं; तथापि इसी कारण वे सब बालकों को प्रिय नहीं हो सकते। इसी तरह डोलन, ताल की स्पष्टता और उचित वस्तु के कारण भी अन्तर पैदा होता है। लोक-गीतों के समूह की छान-बीन करने से और शिष्ट काव्यों को देखने से दोनों के विकास-क्रम का पता चलेगा। हमें गेयता, डोलन, ताल और औचित्य के क्रम की खोज करनी होगी। लोकगीतों की गेयता का क्रम प्रत्यक्ष प्रयोग के बिना प्राप्त हो नहीं सकता। लोक-गीतों का साहित्य बिना अध्यवसाय के दुर्लभ ही समझिये। समान सतह पर तैरने वाले सब लोकगीतों में कुछ पुराने मिलेंगे, तो कुछ नये भी होंगे। परन्तु शिष्ट काव्य या कविता के क्रम की शोध तो हमें करनी ही चाहिए। जिस क्रम में काव्य का साहित्य आरम्भ से, बाल्यावस्था से, विकसित होता आया है, उस क्रम से हम उसे बालकों के सम्मुख रख सकते हैं। इस विधि से बाल-काव्य के क्रमिक लक्षणों वाली अधिकांश कवितायें हमें सरलतापूर्वक प्राप्त हो जायेंगी।

लोकगीतों या ग्रामगीतों में बाल-लोकगीत कौन-कौन से हैं, सो तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुभव द्वारा ही ठहराना चाहिये। इस प्रकार का अनुभव करने वाले को यह जान लेना पड़ेगा कि किन लोग गीतों का त्याग किया जाय, किन को अपनाया जाय और किनका उपयोग किया जाय।

अपनी गेयता के कारण प्रायः कोई भी लोकगीत सरल ही होगा। लेकिन बालकों के लिए और भी कारण हैं। अतएव उन्हें कौनसा गीत बार-बार सुनने की इच्छा होती है, इसका प्रयोग करके देखना चाहिये और उसके आधार पर नियम-रचना करनी चाहिये। बालकों को उनकी दुनिया के स्थूल एवं मानसिक अनुभव व्यक्त करने वाले लोकगीत प्रिय होते हैं। उनके आसपास का जगत् जिसमें प्रतिबिम्बित हुआ हो, वह गीत ही उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करता है। उनके सुख-दुःखों के साथ जिसका विशेष सम्बन्ध होता है, ऐसा गीत भी उन्हें अच्छा लगता है। उनकी कल्पनाओं को ऊँचा उड़ाने वाले, उनकी तरंगों का पोषण करने वाले गीत भी वे सुनते हैं। जिनमें कथानक

होता है, घटनाओं की परम्परा का श्रृंखलाबद्ध गाना होता है, वैसे गीत उनको अतिशय प्रिय होते हैं। ये सब तो गीत की वस्तु और भाव की बातें हुईं। गीत की भाषा अर्थात् उसकी तड़प, उसके शब्द, अनुध्वनियाँ, भाषा की रचना, ये सब गीत की प्रियता-अप्रियता के साथी हैं। गीत की गान-सरलता और स्मृति-सरलता भी गीत के प्रति पक्षपात के पोषक हैं। इन सबका खयाल कर लेना चाहिये।

प्राचीन गीतों का त्याग करने वालों के लिए केवल एक सूचना आवश्यक है। प्राचीन गीतों के संग्रहकर्त्ता की दृष्टि संग्रह तक ही रहती है। पुरातत्त्ववेत्ता की गीत-सम्बन्धी दृष्टि भिन्न होगी। भिन्न-भिन्न मनुष्यों की दृष्टि, आत्म-लक्षी या पर-लक्षी, भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रकार शिक्षक की दृष्टि भी भिन्न होनी चाहिए।

लोकगीतों द्वारा हम बालक को प्राचीन काल का इतिहास नहीं सिखाना चाहते। पुराने गीतों का उपयोग आगे चलकर इतिहास के विद्यार्थी के लिए लाभदायक हो सकता है। पर हमें तो बालक को निर्दोष आनन्द देने वाला, बाल-भोग्य गीत सुनाना है। 'निर्दोष' के अर्थ का हमें खूब विचार करना चाहिये। आने वाले समाज में जिन चीजों को हम देखना न चाहते हों, उसका पोषण और समर्थन करने वाले सब गीतों का हम त्याग कर दें, हमें त्याग कर ही देना चाहिये। हम अन्धविश्वासी नहीं बनना चाहते। हम सास-बहू के कलह से घबरा उठे हैं। हमें विष खिलाकर मार डालने वाले सौतिया डाह की भी आवश्यकता नहीं है। ऐसी-ऐसी जो बातें हमारे अनुकूल न हों, गीतों में वे नहीं होनी चाहिये, क्योंकि गीत के साथ वे भी बालक का स्पर्श करती हैं। जहाँ गीत का झुकाव ऐसी बात को आदर्श-रूप में रखने की ओर होता है, वहाँ तो वह विष-रूप ही बन जाता है। अतएव गीतों पर हमें चौकी-पहरा बैठाना होगा। गीतों में बाल-जीवन और मनुष्य-जीवन को उन्नत बनाने वाले भावों को हम रहने दें, बाकी को निकाल फेंकें। ऐसा करते-करते सम्पूर्ण गीत भी हाथ से निकल जाय, तो परवाह नहीं। वास्तविक रूप में गीत का मूल्य उसकी गेयता, सरलता, आदि में है; उसकी वस्तु का भी मूल्य है, पर वह गौण है। हम गीत की पुरानी देह में नयी वस्तु रखकर



लोकगीतों का पुनरुद्धार करें, तो हमारे हाथों उत्तम काव्य-शिक्षण का आरम्भिक साहित्य तैयार हो सकेगा और वह हर तरह इष्ट होगा।

लोकगीतों का परिचय गाकर कराया जाना चाहिये। जो गीत गाये जायँ और जो बालकों को प्यारे लगें, वे लिखावट में उनके सामने पहुँचें, तो परिचय को सुदृढ़ बनाएंगे। लेकिन याद रहे कि गीतों का परिचय गीत के गाने से होता है, वाचन से नहीं होता। गीत परिचय उसे केवल मुखाग्र कर लेने से या बोलने से भी नहीं होता। उसका परिचय गीत के वातावरण में रहने से होता है। अतएव पाठशाला में गीतों का निर्बाध रूप से गाया जाना ही उत्तम मार्ग है।

अब हम यह विचार करें कि बालकों के सम्मुख कवितायें किस प्रकार रक्खी जायँ। पहला विचार उनके क्रम का है। आजकल के हमारे काव्य-संग्रह और बाल-कविता-संग्रह आदि सफल प्रतीत नहीं होते। पाठ्य पुस्तकों में पाये जाने वाले पद्यों पर भी बालकों का प्रेम नहीं जमता। इसके लिए क्या किया जाय?

अभी हमारे काव्य-साहित्य का विकास एक हद तक ही हुआ है। इस साहित्य की छान-बीन करके यदि इसका वर्गीकरण किया जाय, तो वह कुछ इस प्रकार का होगा। एक वर्ग ठेठ पुराने कवियों का होगा, जिन पर प्राकृत भाषाओं और ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी, मागधी, शौरसेनी, डिंगल आदि का प्रभाव पड़ा है। दूसरा वर्ग ठेठ हिन्दी यह विशुद्ध ब्रज आदि भाषाओं में कविता करने वालों का होगा। तीसरा वर्ग खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों का और चौथा वर्ग वर्त्तमान शुद्ध खड़ी बोली के कवियों का होगा। हमारी भाषा संस्कृत से प्राकृत बनकर फिर हिन्दी बनी है। हमें बालकों के सम्मुख हिन्दी काव्य रखने हैं और चूंकि बालकों के सम्मुख रखने हैं, इसलिए हिन्दी काव्य के विकास में जो काव्य प्राथमिक हों, वे ही रक्खे जाने चाहिये। ये प्राथमिक काव्य क्या हैं और इनके रचयिता कौन हैं, सो देखना होगा। अधिकतर जो भक्त-कवि हो गये हैं, उनकी भाषा मिश्र भाषा या खड़ी बोली से पहले की हिन्दी भाषा है। चन्द, जायसी, केशव आदि कवि हिन्दी भाषा के कवि हैं, परन्तु उनके काव्यों पर संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं और

वस्तु दोनों का प्रभाव है। यदि वे एक प्रकार से हिन्दी भाषा के काव्य-प्रवाह के मूल में हैं, तो दूसरे प्रकार से वे शुद्ध प्रवाह के उस पार के हैं। अर्थात् जिस प्रकार किसी समतल प्रदेश पर बहने वाली जलधारा पहाड़ पर होकर नीचे आती है, तो भी उसका आरम्भ तो समतल देश के प्रवाह से नहीं, पहाड़ वाले प्रवाह से ही माना जाता है, वही बात इन कवियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। फिर भी ये और ऐसे कवि संस्कृत आदि भाषाओं का और उनकी वस्तु का हिन्दी में प्रयोग करते हुए भी, काव्य-शरीर का तो नूतन निर्माण ही करते थे। वे नई भाषा में काव्य की रचना करते थे, इसलिए उन्होंने संस्कृत या विकसित भाषा के छन्दों का विशेष प्रयोग नहीं किया। उन्होंने लोक-हृदय और लोक-मानस के अनुकूल स्वाभाविक और हृदय को सरलतापूर्वक स्पर्श करने वाले दोहे, चौपाई, सोरठे, कवित्त, छन्द आदि का ही प्रयोग किया। शैली की दृष्टि से ये कवि हिन्दी साहित्य की कविता-नदी के उद्गम स्थान के निकट कहे जा सकते हैं। इनके पश्चात् जो कवि हुए, उन्होंने अपने-अपने प्रदेश के मानस को, उसकी लोक कथाओं को, उसके अन्धविश्वासों को, शक्ति-अशक्ति को और महत्त्वाकांक्षाओं को अपनी कविता द्वारा व्यक्त किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, भट्ट, प्रेमघन आदि इसी वर्ग के कहे जा सकते हैं। इनकी कविता की रचना संस्कृत-रचना से भिन्न है।

अब कविता के शरीर या बहिरंग की दृष्टि से हम इन कविताओं का विचार करें। कविता-परिचय में कविता का शरीर पहली बात है। उस शरीर में उत्पन्न होने वाले भाव और रक्खी जाने वाली वस्तु किंचित् गौण है। काव्य-विकास के आरम्भ में हिन्दी कविता ने जो शैली ग्रहण की है, वह प्राथमिक शैली कही जा सकती है। उसके राग और छन्द आदि भी वैसे ही होते थे। कुछ को छोड़कर यह कविता सरल है, सादी है, और अटपटे अन्वयों का इसमें बाहुल्य नहीं है। लोकगीत जिस प्रकार लोक-भोग्य और लोक-गत हैं, उसी प्रकार ये कवि भी शिष्ट कवियों की अपेक्षा लोक कवि ही कहे जा सकते हैं और इनकी अनेक रचनाएं तो लोकगत होने के कारण लोकगीत तत्त्व को भी प्राप्त कर चुकी हैं। यह प्राथमिक शैली बालकों को प्रिय होती है। साधारण जनता, अर्थात् प्राथमिक योग्यता के लोग, इन कविताओं को आज



भी गाते पाये जाते हैं। उनके कवि और लेखक पुरानी शैली में कथा-कहानियाँ लिखते हैं। अतएव कविता के आरम्भिक परिचय के समय बालकों के सामने ऐसी शैली वाली कवितायें ही रखनी चाहिये।

पुराने कवियों ने और इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के बाद तक के कवियों में से किसी ने बाल-काव्यों की रचना नहीं की। उनकी रचनायें उस युग की भावना से ओत-प्रोत रचनायें हैं। बाल गीतों का युग तो वर्त्तमान युग है। इसी से आज कतिपय होनहार बाल-कवि पुरानी शैली में नये-नये गीत देने की चेष्टा कर रहे हैं। गुजरात में श्रीत्रिभुवन व्यास इस प्रकार के एक सरल और अग्रगण्य बाल-कवि हैं। भक्त-कवि भक्ति का गान करते हैं, रसिक कवि शृंगार वर्णन करते हैं, शिक्षक-कवि या बाल-प्रिय कवि बालकों के लिए काव्य रचना करते हैं और करेंगे।

तत्काल तो हम पुरानी शैली के बाल-मनोचित काव्य छाँट-छाँटकर बालकों के सम्मुख रक्खें। ऐसे काव्य उन्हें गाकर बताएं और लिखकर दें। इस विधि से धीरे-धीरे इन काव्यों का क्रम भी हम जानने लगेंगे और साथ ही, नई वस्तु भरकर पुरानी शैली का पुनरुद्धार भी करते जायेंगे।

हिन्दी में अभी तक कोई ऐसा प्रतिभाशाली, कुशल, बालकों की दुनिया में परम लोकप्रिय और जन्म-सिद्ध बाल-कवि नहीं हुआ, जिसकी रचनायें घर-घर बालकों के अगणित कण्ठों में गूँजती रहती हों। दुर्भाग्य से इधर हमारे साहित्यिकों का अब तक ध्यान ही नहीं गया है। सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, स्वर्ण सहोदर, बक्षी, श्रीनाथसिंह, सोहनलाल द्विवेदी आदि कुछ कवि बहुत समय से हिन्दी में बाल कवितायें लिखते रहे हैं, परन्तु इनका अब तक का कार्य इस दिशा में प्राथमिकता की अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाया। इनकी तैयार की हुई इस भूमिका के बाद हिन्दी बाल-कविता के क्षेत्र में शीघ्र ही किसी महान् प्रतिभाशाली बाल-कवि के आगमन की बड़ी ही आवश्यकता है। इधर लक्षणों से प्रतीत होता है कि हिन्दी के सौभाग्य से यह दिन शीघ्र ही आने वाला है।

कविताओं के चुनाव का यह नियम तो हम देख चुके कि शैली आदि की दृष्टि से कविता के बहिरंग का चुनाव हमें हिन्दी-काव्य-विकास के क्रम से

करना चाहिये। दूसरी बात है, काव्य की वस्तु का परिणाम। हम तुलसी, सूर, कबीर, मीरा आदि की रचनाओं में से बालकों के अनुकूल वस्तु वाली अनेक कवितायें खोज सकते हैं। वे वस्तु का भी विकास तो करते ही जाते थे। इसलिए उनकी रचनायें बाल-रीति के साथ बाल-वस्तु से भी पूर्ण हैं।

लोक-गीत की वस्तु के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह कविता को भी लागू होता है। कविता में भी, जिनकी हमें आवश्यकता नहीं है, वैसी बातें नहीं होनी चाहिये। जो आदर्श आज हमारा नहीं रहा है, उस आदर्श की प्रेरणा देने वाली काव्य-वस्तु का हम सर्वथा त्याग करें। और, अपनी भव्य आवाज़ तथा गंभीर, पर थोथे आदर्श से काव्य को भारी-भरकम बनाकर बिगाड़ न डालें। आधुनिक बालकों के सहज जीवन के लिए प्रेरक और पोषक वस्तु से पूर्ण काव्य ही हमारे बालकों के लिए उपयोगी होगा।

एक दूसरी बात भी विचारणीय है। बालक दो प्रकार के काव्यों से आनन्द लूट सकता है: एक, वर्णनात्मक या एक भाव वाले और दूसरे, कथात्मक अर्थात् कथा और कहानी वाले। इनमें भी सादे और वर्णनात्मक काव्यों के समान ही आख्यायिका-काव्य भी बालकों को प्रिय और उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं। कथात्मक काव्यों में कहानी रहती है, इसलिए वे कहानी की तरह ही बालकों को प्रिय भी होते हैं, और कभी-कभी तो वे खूब पसन्द किये जाते हैं। अतएव ऐसी कविताओं का संग्रह हमें रखना चाहिए। कुछ प्रतिभाशाली तरुण कवि ऐसे काव्यों कि रचना करें, तो बहुत ही अच्छा हो। प्राथमिक अवस्था के मनुष्य को लम्बी और कहानी के ढंग की बात ज़्यादा पसन्द होती हैं। छोटे बालकों को भी वैसे ही काव्य प्रिय होते हैं। हम बड़े हो चुके हैं, इसलिए हमें उर्मि काव्य अधिक आकर्षित करते हैं। फिर भी देहात में बड़ी उम्र के स्त्री-पुरुष तक, 'प्रेम-सागर' 'नल-दमयन्ती की कथा' या 'रामायण-महाभारत'—जैसे महाकाव्यों की कथा सुनते-सुनते थकते ही नहीं। कवितायें लम्बी होने पर भी यदि उनमें घटनाओं की परम्परा होगी, तो बालक उन्हें अवश्य ही पसन्द करेंगे; जब कि बिलकुल छोटी-सी कविता, यदि केवल भावप्रधान हुई, तो उनके लिए नीरस होगी।



यदि हम बालकों को कविता का केवल परिचय-मात्र भी करा सके, तो काव्य-शिक्षण की दृष्टि से हम उन्हें बहुत-कुछ सिखा चुकेंगे। सच्ची शिक्षा वस्तु के साथ तन्मय हो जाने में है। तन्मयता परिचय से आती है। अर्थ, अन्वय आदि की माथापच्ची तो फिर सहज सिद्ध हो जाती है।

हमने काव्य-परिचय का समर्थन और प्रतिपादन तो किया, पर यह परिचय कराया कैसे जाय?

ऊपर इस ओर संकेत किया जा चुका है, फिर भी यहाँ ज़रा विस्तार से लिखना ठीक होगा। कविता का परिचय गाकर ही कराया जा सकता है। गाने का ढंग सुरीला, राग सरल और औचित्यपूर्ण, अभिनय, छटा, ताल आदि उत्तम परिचय कराने में भली भाँति सहायक होते हैं। परिचय, परिचय ही होना चाहिए। कविता को रटाना बेकार है; मुखाग्र करवाना भी ठीक नहीं; सुनना बिलकुल निरर्थक है। कविता का केवल रसानुभव किया जाय और वैसा करते-करते उसे आत्मसात कर लिया जाय।

परिचय कराते समय काव्य के सम्बन्ध में प्रसंगानुसार कुछ कहा जा सकता है। काव्य की वस्तु के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अनुचित नहीं। काव्य-गत कहानी को संक्षेप में ज़बानी सुना देने से काव्य को शीघ्र समझने में सरलता होती है और बालक उसमें अधिक रस लेते हैं। आरम्भ में भूमिका रूप में काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहना उपयोगी है। बीच-बीच में भी किसी शब्द का अर्थ बताकर उस काव्य की विशेषता को प्रकट करना आवश्यक है। समय-समय पर काव्य को गद्य के रूप में भी भावपूर्वक पढ़ जाना उपयोगी हो सकता है।

जब बालक पद्य पढ़ने लग जायँ, तो उनके सामने कवितायें भी रखिये और कविता के पाठ भी रखिये—अर्थात् कविताओं को पाठ के रूप में सजाकर रखिये। गीत हो, तो उसे गीत-पाठ कहिये, काव्य हो तो काव्य-पाठ। गीत और गीत-पाठ को साथ पढ़ने से बालक काव्य का अर्थ स्पष्ट समझने लगेंगे और उन्हें अन्वय आदि का अप्रत्यक्ष बोध भी हो जायगा। लेकिन प्रत्येक काव्य के लिए यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यह तो एक नमूने की तरह बताने की चीज़ है।

काव्य-शिक्षण के विषय में काव्य-परिचय के लिए कुछ ऐसी बातें कही जा सकती हैं।

## २

## कविता कैसे सिखाई जाय ?

### प्रचलित प्रथा से हानि

आजकल हमारी शालाओं में कविता सिखाने की जो रीति प्रचलित है, उसमें तत्काल सुधार करने की आवश्यकता है। कविता को मुखाग्र करना, उसके शब्दों के अर्थ जानना, अन्वय करना और उसका भावार्थ समझना, प्रचलित कविता-शिक्षण के ये ही मुख्य अंग हैं। सिखाते समय कविता के गान की ओर, शब्द के मूल अर्थ की ओर, शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोगों की ओर, और शब्द-सामर्थ्य और रहस्यार्थ की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। दूसरे, कविता इस प्रकार खण्ड-खण्ड करके पढ़ाई जाती है कि उसका सम्पूर्ण चित्र और उसकी अन्तरात्मा विद्यार्थी के सामने खड़ी नहीं हो पाती। इस सब के परिणाम-स्वरूप विद्यार्थी में कविता की क़द्र करने की शक्ति और उसका आस्वाद लेने की रुचि उत्पन्न नहीं होती। प्रचलित कविता-शिक्षण से विद्यार्थी के अन्दर सोये हुए कविता के बीज अंकुरित नहीं हो पाते। यही कारण है कि इतने-इतने बरसों से हमारी पाठशालाओं में कविता सिखाई जाती है, फिर भी कविता लिखने वाले कवि बहुत ही थोड़े हैं और सच्ची कविता के प्रेमियों की संख्या भी उतनी ही अल्प है। आजकल के मासिक-पत्रों में बाढ़ की तरह बह निकलने वाले कवि और उनकी रचनायें इस कथन का ज्वलन्त उदाहरण हैं। क्षुद्र रुचि वाले लोग यदि ऐसी कविताओं को पढ़ते न होते, तो ये कवितायें कभी की अदृश्य हो गई होतीं और कोई रद्दी कविता सामने आती ही नहीं। निःसन्देह यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि कविता के शिक्षण से ही प्रभावशाली कवि उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह तो सच है कि कविता के यथार्थ शिक्षण से गुप्त कविता प्रकट होती है, कविता-सम्बन्धी लोक-रुचि उच्च प्रकार की बनती है और ऐरे-ग़ैरे लेखकों की रद्दी तुकबन्दियों को साहित्य में कोई स्थान नहीं रहता।

### कविता में संगीत

लेकिन अब हम यह विचार करें कि कविता किस प्रकार सिखानी चाहिए। कविता गेय वस्तु है। उसके शिक्षण में संगीत को अग्रस्थान दिया जाना चाहिये। कविता सिखाने से पहले विद्यार्थी को गुनगुनाना—गाना—सिखाना चाहिये। संगीतहीन कविता, नीरस कविता है। जो गाना नहीं जानता, वह कविता का सच्चा लाभ नहीं उठा सकता, उसके सच्चे रहस्य को नहीं समझ सकता। कविता केवल शब्दों में ही नहीं होती; न प्रासानुप्रास में होती है। अन्य सब गुणों के साथ उसके गाने योग्य होने ही में कविता का कवित्व है। एक मनुष्य कविता को केवल पढ़ जाय और दूसरा उसी कविता को ललकार कर आलाप के साथ गावे, तो दोनों का भेद बिना कहे समझ में आ सकता है। संगीत यदि कविता का प्राण न हो, तो हर्ष, शोक, प्रेम आदि भिन्न-भिन्न भावों से उमडती हुई कविताओं का भेद हम भली भाँति समझ ही न सकें। किसी कविता को पढ़ जाने या साधारणतः सुन लेने से हम उस कविता के भाव समझ या जान सकते हैं, लेकिन मर्म का स्पर्श तो कविता का गान ही कर सकता है; हृदय उसी से डोल सकता है; भावों को वही झकझोर सकता है। गानहीन कविता, बिना पानी की नदी के समान है। शिक्षण में कविता के इस प्राण का प्रथम स्थान होना चाहिये। कविता का यह प्राण संगीत द्वारा ही समझा जा सकता है, ग्रहण किया जा सकता है।

कविता के विधिवत् शिक्षण का आरम्भ प्रथम ही से बालक के हृदय में सुन्दर संगीत का प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करके किया जाना चाहिये। माता-पिता को और शिक्षक को अच्छी-अच्छी, सुन्दर रागों वाली कवितायें विद्यार्थी के सामने प्रेम के साथ और छटा-पूर्वक गाकर सुनाने का अवसर कभी हाथ से जाने नहीं देना चाहिये। माता-पिताओं को और शिक्षकों को घर में और पाठशाला में खूब गाते रहना चाहिये और अपने चारों ओर कविता के गान का वातावरण उत्पन्न करना चाहिये। दीर्घकाल तक बच्चों को इसी वातावरण में नहलाना चाहिये और इसके लिए गायक को संगीत का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये।

### बालोचित कविता

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कवितायें अच्छी-अच्छी और राग वाली चुननी चाहिये। अश्लील कविता तो कदापि न चुनी जानी चाहिये। यथा-

सम्भव सरल और भावपूर्ण कविता ही पसन्द की जाय। किन्तु यदि सुन्दर रीति से गाने योग्य हों, तो कठिन कवितायें चुनने में भी हानि नहीं। बालकों के लिए वे ही कवितायें अधिक उपयोगी होती हैं, जिनमें शब्दों की चमक-दमक हो, भावों में गतिशीलता हो, पुनः पुनः एक ही तरह की पंक्तियों का बारम्बार पुनरावर्तन होता रहता हो और बाल-जगत् के चित्रों का जिनमें आलेखन हो या जो कवितामय कहानी के रूप में हों। बालक के पूर्वज्ञान और उसकी उम्र का भी कविता के चुनाव के समय विचार किया जा सकता है। इसके लिए लोक-गीतों का उपयोग अच्छी तरह हो सकता है। वे गाने में सरल होते हैं। राग उनका उछलता हुआ होता है, पंक्तियों का पुनरावर्तन उनकी अपनी विशेषता है और यही कारण है कि ये गीत सरलता-पूर्वक याद हो जाते हैं। इन गीतों में ऐसे शब्द-चित्र हैं, जो न केवल प्रिय ही होते हैं, वरन् बालक और कविता के प्रदेश में नया-नया प्रवेश करने वाले भी उनके भावों को आसानी से समझ जाते हैं।

शब्दों की रुनुक-झुनुक वाली कविता को बालक समझें या न समझें, तो भी वह उनके लिए आह्लाददायिनी होती है। छोटे-बड़े सभी को नया ज्ञान प्राप्त करने की भूख रहती है। नई बात, फिर वह समझ में न आने वाली ही क्यों न हो, हर कोई एक हद तक उसे सुनने को उत्सुक रहता है। कभी-कभी तो दुर्बोध होने के कारण ही मनुष्य उसे सुना करता है। बालकों और विद्यार्थियों को तो दूसरों की बातें सुनने का बड़ा ही शौक़ रहता है— इसलिए नहीं कि जो कुछ बोला जाता है, वह समझ लिया जाय, पर इसलिए कि नये-नये शब्द सुनने को मिलें।

जिन कविताओं में बाल-जगत् का शाब्दिक चित्रण होता है, वे भी बालकों को खूब पसन्द पड़ती हैं। बालक उन में अपने आसपास की परिस्थिति को गूँथी हुई पाकर आश्चर्य करता है। वह जो कुछ देखता रहता है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त होते देखकर बालक को कविता में चमत्कार की प्रतीति होती है।

जो कवितायें क्रियाप्रधान होती हैं, जिनमें गाड़ी-घोड़ा, दौड़-धूप, धूम-धाम होती है, उन्हें भी बालक खूब पसन्द करते हैं। कविता में वर्णित



क्रियाओं को सुनकर बालकों की क्रियाशील प्रवृत्ति को आनन्द और पोषण मिलता है। बाल्यावस्था में विद्यार्थी की नसों का ख़ून जोरों से दौड़ता रहता है। उसका सारा जीवन क्रिया से परिपूर्ण होता है। जीवन की इन घड़ियों में क्रिया का गान करने वाली कवितायें बालक के विकास में विशेष-रूप से सहायक होती हैं।

जिन कविताओं द्वारा कहानी कही जाती है, वे भी बाल-स्वभाव को प्रिय होती हैं। ऐसी कवितायें ज़रा बड़ी उम्र के बालकों को विशेष आकर्षित कर सकती हैं।

संगीत की दृष्टि से कविताओं के चुनाव के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा।

बालकों में कविता गाने का शौक़ पैदा कर देने से कविता-शिक्षण का आधा काम तो बन ही जाता है। कविता के सुन्दर और सस्वर गाने से विद्यार्थी में उसका अर्थ और भाव तो अपने आप ही स्फूर्त हो जायेंगे। यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि शिक्षक को कविता किस प्रकार गानी चाहिये। पहले तो शिक्षक को राग-रागिनी का परिचय होना चाहिए। मधुर कण्ठ से नहीं, तो कम से कम, राग के घर में गा लेने का तो उसे अभ्यास होना ही चाहिये। गाते समय उसे गान में एकतानता और तल्लीनता अनुभव करना चाहिये। गान आरोह-अवरोह से पूर्ण रहना चाहिये। वह कण्ठ से गाया जाना चाहिये। शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होना चाहिये। सारांश, सम्पूर्ण कविता इस प्रकार गाई जानी चाहिये कि बालक के कानों में उसका प्रत्येक शब्द साफ़-साफ़ पहुँचे। शिक्षक को विद्यार्थी के सामने सदा एक ही कविता कभी नहीं गानी चाहिये। गेय कविताओं का एक अच्छा-सा संग्रह उसके पास रहना चाहिये। साथ ही, शिक्षक को यह आग्रह भी नहीं रखना चाहिये कि प्रत्येक कविता सम्पूर्ण ही गाई जाय। बहुत सी कविताओं की दो-दो, चार-चार पंक्तियों का गान अधिक रुचिकर और उपयोगी होता है।

### शब्दार्थ

बालकों से न तो शब्दों के अर्थ लिखवाने चाहिये। और न उन्हें यों ही अपनी ओर से अर्थ बताने चाहिये। गाना शुरू करने से पहले उन्हें कविता की

वस्तु का, थोड़े में, परिचय दे देना चाहिये। कभी-कभी कविता सुन चुकने पर उसका संक्षिप्त सार सुनने में बालकों को विशेष आनन्द आता है। सार सुना चुकने के बाद उन्हें पुनः कविता सुनानी चाहिये। इस बार भिन्न-भिन्न शब्दों का भाव प्रकट करना चाहिये; कभी मुँह पर वैसे भाव लाकर, कभी हाथ से संकेत करके, तो कभी दूसरी आवश्यक क्रियाओं द्वारा। इसके अतिरिक्त, बालक को आरम्भ से कह रखना चाहिये कि जिस शब्द का अर्थ समझ में न आवे, उसका अर्थ वह खुशी के साथ पूछ सकता है। बालक कोई पंक्ति न समझ सके, तो गाते-गाते या विवेचन करते-करते भी उसका अर्थ बता दिया जा सकता है। इस रीति से गाने से पहली बार विद्यार्थी के मन में थोड़ा अर्थ स्फुरित होगा, दूसरी बार पहले से अधिक अर्थ वह समझ सकेगा और इस प्रकार कविता सुनते-सुनते अथवा स्वयं कविता पढ़ते या गाते समय वह उसका अधिकाधिक अर्थ समझने लगेगा। इतने पर भी कुछ शब्दों के अर्थ तो विद्यार्थी बड़ा हो जाने पर ही समझ सकेगा। आजकल के शिक्षकों की यह धारणा त्याज्य और भ्रमपूर्ण है कि विद्यार्थी को अधिक से अधिक शब्दों के अर्थ जान ही लेने चाहिये। पेड़ धीरे-धीरे उगकर बड़ा होता है, ज्ञान की, और विशेष कर कविता के ज्ञान की, वृद्धि भी इसी तरह होती है। दूसरे, इस अवस्था में विद्यार्थी शब्द का अर्थ समझ सकता है, पर उसका गूढ़ार्थ और शब्दों का तोलन वह नहीं समझ पाता। अतएव आरम्भिक शिक्षण में इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। गान और शब्द के अर्थ-ज्ञान द्वारा विद्यार्थी में कविता की अभिरुचि जगाना आवश्यक है; कविता गाने और उसके अर्थ को समझने का शौक़ बालक के दिल में पैदा करना हमारा कर्त्तव्य है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ सिखाने से और प्रत्येक पंक्ति का अन्वय कराने से कविता का अभ्यास फूल की उन पँखुड़ियों के अभ्यास की तरह होता है, जिसकी पत्ती-पत्ती नोच डाली गई है। ऐसे अभ्यास से कविता-शिक्षण का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। कविता पढ़ने का शौक़, उसके वाचन से आनन्द प्राप्त करने की शक्ति, पढ़ते-पढ़ते विद्यार्थी का उसमें तल्लीन हो जाना—कविता-शिक्षण की सफलता के ये ही तो चिह्न हैं। कविता-शिक्षण का भवन छात्रों द्वारा रटी हुई काव्य-पंक्तियों या घोखे हुए शब्दार्थों की नींव पर खड़ा नहीं किया जा सकता। कविता-शिक्षण की सफलता का रहस्य तो यह जानने



में है कि विद्यार्थी काव्य में कितना रस लेने लगा है; काव्य उसको कितना स्पर्श कर सका है; उसके लेखन और उसकी वाणी में कविता ने कितना स्थान ले लिया है। सच्ची आवश्यकता तो यह है कि विद्यार्थी में काव्य को समझने की, उसकी क़द्र करने की और उसका आस्वाद लेने की शक्ति का विकास हो। यह शक्ति अकेले शब्दार्थ या अन्वय से नहीं आ सकती। केवल शब्दार्थ और अन्वय इसके विरोधी तत्त्व हैं।

विद्यार्थियों में इस शक्ति का विकास करने के लिए शब्द के यथार्थ अर्थ को समझने की शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये, अर्थात् विद्यार्थी को शब्द-सामर्थ्य का रहस्य समझ लेना चाहिये। विद्यार्थी के अन्दर इस रहस्य को जगाने की कुछ रीतियाँ हैं। उनमें से कुछ का विचार यहाँ किया जायगा।

एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द से नहीं समझा जा सकता। समान अर्थ के प्रतीत होने वाले शब्दों में भी सदा सूक्ष्म-सा भेद रहता ही है। यह भेद एक के स्थान पर दूसरा शब्द सिखाने से कभी समझ में नहीं आ सकता। 'हिम्मत' और 'बहादुरी' का परिचय शब्द द्वारा नहीं कराया जा सकता। 'शान्ति' और 'नीरवता' भी शब्द द्वारा नहीं समझी जा सकती। कुछ विशेषण और कुछ भाव-वाचक शब्द ऐसे हैं कि जो दूसरे शब्दों द्वारा कभी समझाये ही नहीं जा सकते। इसका अनुभव हमें **प्रकृति, कल्पना शक्ति, रमणीय, भयंकर** और ऐसे ही अन्य शब्द सिखाते समय सहज ही होता है। यदि हम निकट के अर्थ वाले पर्याय शब्दों द्वारा मूल शब्द का परिचय कराते हैं, तो मूल और पर्याय शब्द का सच्चा अर्थ और शब्द-सामर्थ्य बालक समझ नहीं पाता, और तब तक वह साहित्य के सच्चे ज्ञान से वंचित ही रहता है।

जितने शब्द पदार्थ दिखाकर समझाये जा सकें, उतने तो पदार्थ दिखाकर ही समझा देने चाहिये। अर्थात् जो वस्तु पंचेन्द्रिय गम्य है, उसे पंचेन्द्रिय के सम्पर्क में लाकर ही उसका शब्दार्थ समझाना चाहिये। कोई वस्तु एकाधिक इन्द्रिय से जानी जाती हो, तो उन सब इन्द्रियों द्वारा उनका परिचय कराना चाहिये। इस विधि से बालक को उन-उन वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है और उन वस्तुओं के लिए ठहराये हुए शब्दों का पूरा भाव भी समझ में आ जाता है। दूसरे, शब्द-ज्ञान के लिए दिखाई जाने वाली वस्तु

अपने मूल स्वरूप में होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, हमें बालक को **कछुए** नाम के जलचर प्राणी का परिचय करना है। 'वह जलचर प्राणी है, उसके चार पैर हैं, उसकी पीठ पर ढाल है, उसकी खुराक अमुक-अमुक है, उसकी चमड़ी से चूड़ियाँ बनती हैं,' इस प्रकार के वर्णनों से हम बालक को **कछुए** का बोध नहीं करा सकते। यह बोध हमने केवल कर्णेन्द्रिय द्वारा कराया है। अब मान लीजिये कि आप चित्र द्वारा कछुए का बोध करना चाहते हैं, पर उससे भी बालक पूरी तरह कछुए को समझ नहीं सकेगा। चित्र द्वारा शब्द का ज्ञान कराने में केवल आँख की इन्द्रिय का ही उपयोग होता है। वस्तुतः यदि गांव में तालाब आदि हों, तो विद्यार्थियों को वहाँ ले जाकर कछुआ दिखाना चाहिये। विद्यार्थी को स्पर्श, कर्ण और नेत्र इन तीनों इन्द्रियों द्वारा कछुए को जान लेना चाहिये, तभी उसे **कछुए** शब्द का यथार्थ बोध हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विद्यार्थी को सिंह या साँप का बोध भी इसी प्रकार कराया जाय। आशय यह है कि विद्यार्थी का ज्ञान यथा सम्भव प्रत्यक्ष वस्तु द्वारा बढ़ाना चाहिये। स्थूल वस्तु न हो, तो उसका चित्र, चित्र न मिले, तो तद्वत् वस्तु का दर्शन और मूल वस्तु का यथावत् वर्णन और वह भी सम्भव न हो, तो केवल वस्तु का हूबहू वर्णन करके उसका परिचय कराना चाहिये।

भाव-वाचक शब्दों को समझाने लिए विद्यार्थी को भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर जो भिन्न-भिन्न अनुभव हुआ करते हैं, या हो सकते हैं, उन प्रसंगों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करना चाहिये। साथ ही, कक्षा में नाटक के प्रयोगों द्वारा और कक्षा के बाहर खेलों द्वारा विद्यार्थी को ऐसे भावों का परिचय कराया जा सकता है। स्वयं शिक्षक भी अपनी आवाज़ और अपने अभिनय द्वारा शब्द का भाव व्यक्त कर सकता है।

गुण-वाचक शब्दों को उनके विशेषणों के साथ प्रयुक्त करके ही समझाना चाहिये। ऊधमी लड़का, बदमाश घोड़ा, पागल हाथी, झगड़ालू औरत, आदि शब्दों का बोध बिना वस्तु का प्रत्यक्ष परिचय कराये छात्रों को सम्पूर्णतया हो नहीं सकता। जिस-जिन विशेषणों के भाव इन्द्रियों की सहायता ही से समझे जा सकते हों, वहाँ-वहाँ इन्द्रियों की सहायता अवश्य लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ, लम्बा, छोटा, काला, सफ़ेद, चिकना, खुरदरा, सुरीला, बेसुरा,



सुगन्धी, दुर्गन्धी, खट्टा, खारा और इसी तरह के अन्य विशेषण प्रयोग-पूर्वक इन्द्रियों की सहायता से समझाने चाहिये। इनके सिवाय कुछ विशेषण ऐसे भी हैं, जो उपर्युक्त रीति से समझाये नहीं जा सकते। ऐसे शब्दों के लिए पहले उनसे बनने वाले संज्ञा शब्दों का परिचय कराना चाहिये और उन पर से विशेषण का अर्थ समझाना चाहिये।

भाषा के दूसरे शब्द, यथा, क्रियापद आदि विशेषकर क्रिया द्वारा और प्रयोगों द्वारा समझाने चाहिये।

इनके अतिरिक्त, दूसरी कुछ खास योजनायें भी ध्यान देने योग्य हैं। शब्द का मूल धात्वर्थ जान लेने से उसका सच्चा मर्म भली भांति समझ में आ सकता है। विद्यार्थी को शब्द का मूल खोजने की आदत डालनी चाहिये। उसके दिल में प्रत्येक शब्द के लिए यह प्रश्न पैदा होना चाहिये कि यह शब्द संस्कृत का है, प्राकृत का है, रूढ़ हिन्दी भाषा का है या किसी परभाषा का है? इस प्रश्न के साथ ही बालक शब्द का मूल खोजने निकल पड़ेगा। हमें इसके लिए उसे कुछ सुविधायें कर देनी चाहिये।

1. स्वतंत्र रूप से शब्दों की सामासिकता या स्वतन्त्रता का पता लगा सकने के लिए छात्र को समास का थोड़ा ज्ञान करा देना उचित है। माँ-बाप, मुख-चन्द्र, दाना-पानी, गृह-स्वामी आदि शब्द भिन्न-भिन्न समासों के दर्शक हैं। यदि बालक को इन समासों को पृथक् करना सिखा दिया जाय, तो उसे ऐसे शब्दों का अर्थ समझने में कठिनाई न हो।

2. कोई शब्द संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है या नहीं, इसकी परीक्षा के लिए छात्र को व्युत्पत्ति का भी थोड़ा बोध कराना चाहिये।

3. संस्कृत शब्दों का यथार्थ अर्थ समझने के लिए विद्यार्थी को संस्कृत प्रत्ययों और तद्धितों की भी थोड़ी-बहुत जानकारी करानी चाहिये। प्रत्यय का अर्थ भली भाँति समझ चुकने पर ही विद्यार्थी **प्रकोप** आदि शब्दों का अर्थ समझ सकता है। **सुस्थिर**, **विशुद्ध** आदि शब्द भी इसी प्रकार के हैं।

4. भाषा में कुछ द्विरुक्ति-वाचक शब्द भी होते हैं, जो छात्र के ध्यान में आ जाने चाहिये। द्विरुक्ति के अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक में कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। एक प्रकार, शब्द-पर्याय से होने वाली द्विरुक्ति का है। शब्द की पुनरावृत्ति से होने वाली द्विरुक्ति, दूसरा प्रकार है। 'जड़मूल' पहले प्रकार

का दृष्टान्त है। गली-कूचा जात-पाँत, घर-बार भी इसी प्रकार के दृष्टान्त हैं। धमधम, धमाधम, बकबक, झकझक, और ऐसे दूसरे शब्द दूसरे प्रकार के दृष्टान्त हैं। मान लीजिये कि विद्यार्थी 'गली-कूचा' शब्द का अर्थ नहीं जानता। वह सोचता है गली का अर्थ तो तंग रास्ता है, पर कूचा क्या चीज़ है? अर्थ लगाने की दृष्टि से वह कल्पना कर लेता है कि गली कुँजी की तरह लम्बी होती है, इसलिए या सँकड़ी गली के लिए यह शब्द बना होगा। पर हक़ीक़त यह है कि कूचा शब्द में 'कूचये' शब्द फ़ारसी है और उसका अर्थ गली या तंग रास्ता होता है। यदि बालक को इस पर्यायवाची शब्द से होने वाली द्विरुक्ति का ज्ञान हो, तो वह ऐसे शब्द को उस रीति से समझने का प्रयत्न कर लेगा और बिना विशेष कठिनाई के तुरन्त शब्द का अर्थ जान लेगा।

5. बालक को एक शब्द के कुटुम्बी शब्दों की खोज करना भी सिखाना चाहिये। जैसे पेट शब्द से पेटी, पेटू, पेटूपन, पिटारी, आदि शब्द बने हैं। पेटी शब्द पेट से बना है, यह समझते ही बालक को पेटी का तादृश बोध हो जायगा। शब्द-सामर्थ्य के इस ज्ञान से ही 'यह घर पेटीनुमा है', इस वाक्य का यथार्थ बोध हो सकता है। ऐसे शब्दों को खोजने में बालक को मजा आता है और ये शब्द कविता में स्वभावतः और प्रायः आते हैं।

6. जब-जब ऊपर की किसी भी रीति से शब्द का अर्थ न समझाया जा सके, तब-तब जिन दूसरी कविताओं में उस शब्द का प्रयोग हुआ हो, वे कवितायें बालक को सुनाकर शब्द के अर्थ का बोध कराना चाहिये, या घरेलू बोली में वह शब्द जिस तरह बोला जाता है, उस तरह बोलकर बताना चाहिये। समान भाव वाली कविता की पंक्तयों के परिचय से बालक में शब्द-ज्ञान एकाएक जाग पड़ता है और इसीलिए शिक्षक के पास ऐसी अनेक कविताओं का संग्रह रहना चाहिये, जिनमें एक ही प्रकार के शब्द और वैसे ही भाव पुनः पुनः आये हों।

### अन्वय

प्रत्येक कविता का अन्वय सिखाने की आवश्यकता नहीं है। मात्र विद्यार्थी के ध्यान में इतनी बात आ जानी चाहिये कि किस प्रकार कविता को पाठ का रूप दिया जा सकता है, अर्थात् पद्य का गद्य किस प्रकार बन सकता है। अन्यथा, सच्चा अन्वय तो भावार्थ के समझने पर आ ही जाता है। अन्वय एक यान्त्रिक साधन है, जिसके द्वारा विद्यार्थी कविता को सुभीते के साथ गद्य का रूप दे सकता है। अन्वय साधन है, साध्य तो भावार्थ है। भावार्थ को समझने की कुंजी बालक के हाथ में आ जाने पर अन्वय करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सुकुमार वय के बालकों के लिए कभी-कभी अन्वय के प्रयोग उपयोगी हो सकते हैं। अन्वय करने की कला का ज्ञान बालक को हो जाना चाहिये।

इतने पर भी अन्वय का आग्रह कायम ही रहे, तो भले रहे पर प्रचलित रीति से तो अन्वय कभी न सिखाया जाय। अन्वय को कविता के गायन के साथ जोड़ देना चाहिये। गाते-गाते कविता को इस प्रकार भाव-सूचक और अभिनय-पूर्ण बना देना चाहिये कि बालक के मन में कविता का अन्वय अपने आप स्फूर्त हो उठे। इसके अतिरिक्त, कविता को गाते-गाते, कीर्तनकारों की तरह, पद्य से गद्य में, थोड़े-थोड़े शब्दों के विस्तार के साथ व्यक्त करना चाहिये।

### कविता शिक्षण का फल

यदि उक्त रीति से कविता सिखाई जाय, तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि बालक को भावार्थ समझाने की आवश्यकता ही न रहे। भावार्थ समझने का अर्थ ही यह है कि कविता बालक के हृदय में अंकित हो जानी चाहिये, उसे कविता की आत्मा को ग्रहण कर लेना चाहिये। यंत्रवत् भावार्थ कराने की क्रिया से बालक के मन में कविता का प्रभाव अंकित होगा या नहीं, इसमें शंका है। भावार्थ के जागने का प्रमाण भावार्थ की क्रिया की सफलता में है। किसी भी कविता को, छोटी या बड़ी, कठिन या सरल, फिर वह कैसे ही भावों वाली क्यों न हो, बालक समझता है या नहीं, इसका स्पष्ट प्रमाण तो यही है कि बालक को उसमें आनन्द आता है या नहीं? वह भावार्थ समझने की यांत्रिक क्रिया में सम्पूर्ण रूप से सफल न हो सके, तो चिन्ता नहीं। उसको कविता पढ़कर आनन्द होना चाहिये। इसीलिए कविताओं का भावार्थ समझाते रहने की अपेक्षा शिक्षक को चाहिये कि वह उनका वाचन बढ़ाने का प्रयत्न करे। भाषा पर प्रभुत्व, जगत् का अनुभव, कवि-हृदय और कविता का व्यापक वाचन, इतनी बातें किसी भी कविता का भावार्थ यथार्थ रीति से समझने के लिए पर्याप्त हैं। यदि शिक्षक विद्यार्थियों को इन साधनों की राह पर रख दे, तो कविता-शिक्षण के कार्य में उसके हाथों एक उचित कार्य होगा, और विद्यार्थी में कविता का प्रेम और कवि का हृदय प्रकटेगा। यही तो कविता-शिक्षण का उद्देश्य है।

●

# चतुर्थ खण्ड : व्याकरण

## १

## व्याकरण

व्याकरण का ज्ञान भाषा को शुद्ध रखता है और भाषा-शुद्धि भाषा की उन्नति के लिए आवश्यक है। इस विषय में किसी के दो मत हो ही नहीं सकते। परन्तु व्याकरण का ज्ञान कब, कैसे कराना और किस प्रकार कराना, यह प्रश्न भली भाँति विचारणीय है। चूँकि भाषा के ज्ञान के लिए व्याकरण आवश्यक है, इसलिए भाषा के शिक्षण में उसका स्थान तो है। यह स्थान माना गया है, इसीलिए तो आज प्राथमिक पाठशाला से ही व्याकरण की पढ़ाई शुरू हो जाती है। परन्तु अनुभव क्या कहता है? किसी शिक्षक से पूछेंगे, तो मालूम होगा कि व्याकरण का विषय सिखाने में, समझाकर सिखाने में, कठिन सिद्ध हुआ है। फिर भी रटा-रटा कर सिखाने में वह इतना सरल है कि परीक्षा में व्याकरण के विषय में विद्यार्थी प्राय: सौ में से सौ नम्बर पा सकते हैं। विद्यार्थियों द्वारा समझकर सीखने के लिए तो वह कठिन है, यद्यपि युक्ति द्वारा या बिना समझे सीखने में बिलकुल सरल है। लेकिन परिणाम को देखें, तो प्रत्यक्ष मालूम होता है कि विद्यार्थी के भाषा-ज्ञान और भाषा-शुद्धि पर व्याकरण का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है। प्राथमिक शाला के विद्यार्थियों के निबन्ध और उनकी दूसरी रचनायें इसके प्रमाण हैं।

व्याकरण-शिक्षण में संज्ञा, सर्वनाम आदि का परिचय और उनके आधार पर पदच्छेद आदि सिखाया जाता है। इस पर समय तो खूब खर्च होता है, परन्तु विद्यार्थी इसे सीखने में कितनी दिलचस्पी दिखाते हैं, सो तो प्रत्येक शिक्षक जानता ही है। यदि विद्यार्थियों से पूछा जाय कि उनके प्रिय विषय के अतिरिक्त किन-किन विषयों को पाठ्यक्रम से हटा देना चाहिये, तो मिलने वाले नामों में व्याकरण का नाम अवश्य ही पहला होगा। हम सब प्राथमिक शाला में व्याकरण पढ़ चुके हैं। हमको उससे कितना प्रेम था, सो हम भूले नहीं हैं। आज हमको उसमें से कुछ भी याद नहीं। बिना प्रेम के और जबरदस्ती सीखी हुई वस्तु कैसे याद रह सकती है? सारांश, प्राथमिक शाला में पढ़ने वाले छोटी उम्र के विद्यार्थियों को व्याकरण सीखने में बिलकुल आनन्द नहीं आता—अकेला यही कारण इतना पर्याप्त है कि प्रचलित रीति से सिखाया जाने वाला व्याकरण प्राथमिक शालाओं से निकल ही जाना चाहिए।

आरम्भ में भाषा-शिक्षण की मुख्य वस्तु भाषा का परिचय है। भाषा का परिचय उसमें गूँथी गई बालोचित, सुन्दर और रसपूर्ण वस्तु के वाचन और श्रवण से भली भाँति होता है। भाषा का दर्शन, भाषा का अनुभव, भाषा का परिचय, भाषा का सेवन और भाषा का आस्वादन समग्र भाषा के रूप में होना चाहिए—उस सौन्दर्य की तरह, जिसका दर्शन, अनुभव और आस्वादन सम्पूर्ण सौन्दर्य के रूप में ही हो सकता है। यदि आप सुन्दर वस्तु का पृथक्करण पहले से करके दिखायेंगे, तो मनुष्य में सौन्दर्य-दृष्टि और सौन्दर्य के प्रति प्रीति नहीं जागेगी। यही बात भाषा की भी है। भाषा का प्रेम पैदा करने के लिए भाषा का आस्वादन आवश्यक है। व्याकरण-शिक्षण वस्तु का पृथक्करण-मात्र है। उसमें रसास्वाद नहीं। कला के रसास्वाद में गहरा अवगाहन करने के बाद रसास्वाद की मीमांसा करने वाला भले ही कला के सिद्धान्तों की चर्चा करे; भले ही कला के रूप के अंग-उपांगों को हाथ पर रखकर अलग-अलग निरखे; अन्त में उसे उसमें अधिक गहराई और अधिक आनन्द का अनुभव होगा। लेकिन यदि आरम्भ ही में वह हाड़-चाम देखने लगेगा, तो बैरागी बनकर बैठ जायगा। अतएव व्याकरण-शिक्षण बड़ी उम्र के और भाषा के रस में आगे बढ़े हुए विद्यार्थियों के लिए ही उपकारक है। छोटी उम्र के छात्रों के लिए वह भाषा-रसिकता पैदा करने में विघ्न-रूप है।

यदि कदाचित् प्राचीन भाषायें या परभाषायें प्रत्यक्ष पद्धति से न सिखानी हों, तो उन्हें सीखने के लिए व्याकरक-शिक्षण की प्रथम ही

आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि उन भाषाओं की शुद्धि हम व्याकरण के बल से ही सुरक्षित रख सकते हैं। परन्तु मातृभाषा की बात दूसरी है। हमारा छोटे से छोटा बालक भी पाठशाला में जाने से पहले ही शुद्ध हिन्दी बोलने लगता है; वह लिंग या वचन की भूलें नहीं करता। एक विदेशी विद्यार्थी जो सब भूलें करता है, उनमें से एक भी वह नहीं करता। इसलिए परदेशी की दृष्टि से व्याकरण-शिक्षण प्रथम है, हमारी दृष्टि से नहीं। हम स्व-भाषा को तो अधिकतर शुद्ध ही बोलते हैं। उसे अधिक शुद्ध बोलने और लिखने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। हर एक प्राथमिक पाठशाला में इस पर ज़ोर दिया जाना चाहिये। ग़लती कहाँ-कहाँ होती है, सो ध्यान में रखकर उसे दूर करने का उपाय करना चाहिये। लिखते समय बालक बहुधा नीचे लिखी ग़लतियाँ करते हैं। जुड़वाँ अक्षर, हिज्जे, विरामचिह्न, पैराग्राफ, बिना अनुस्वार के अनुनासिक शब्द लिखना, आदि।

क्या इन अशुद्धियों को दूर करने के लिए व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता है? और है भी, तो वैसा ज्ञान कराने की विधि प्राथमिक शाला के पाठ्यक्रम में कहीं खोजे भी मिलती है? इसीलिए पहले इस प्रश्न को हल करना चाहिये। प्रचलित व्याकरण-ज्ञान से संज्ञा, सर्वनाम आदि पहचानना आता है। लेकिन यह ज्ञान न होने पर भी बालक संज्ञा का सर्वनाम की तरह, या एकवचन का बहुवचन की तरह प्रयोग नहीं करता, न ग़लत वाक्य-रचना ही करता है।

जिस प्रकार बिना वर्णमाला के पढ़ना नहीं आता, उसी प्रकार यदि संज्ञा, सर्वनाम आदि के ज्ञान के बिना भाषा पढ़ना या लिखना संभव ही न होता, तो इनके शिक्षण की प्राथमिक आवश्यकता को स्वीकारे बिना छुटकारा न था। लेकिन इस ज्ञान के बिना भी सुन्दर और कठिन भाषा समझ में आ सकती है और सुन्दर, शुद्ध और कठिन भाषा लिखी भी जा सकती है। यह बात हमारे सबके अनुभव की है। हाँ, व्याकरण का ज्ञान भाषा-ज्ञान के एक अंगरूप में किसी दिन काम का है और मुख्यतः उस भाषा के विद्वानों के लिए उपयोगी है। इसलिए यह ज्ञान विद्यार्थी को उस उम्र में दिया जाना चाहिये, जब भाषा की विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए उसे उसकी आवश्यकता पड़े।



लेकिन जब तक विद्यार्थी भाषा का परिचय और उसके द्वारा भाषा की शक्ति बढ़ा रहा है, तब-तक व्याकरण उससे दूर ही रहना चाहिये।

इतने पर भी हम व्याकरण को विद्यार्थियों के सामने रख सकते हैं, प्रचलित शिक्षण के रूप में नहीं, वरन् यह जानने के लिए कि भाषा के शब्दों में कैसा और कितना बल है, भाषा के शब्द कितने विचित्र हैं, भाषा की शक्ति का उद्‌गम किसमें है, आदि-आदि। इन बातों को विद्यार्थी आनन्द-पूर्वक अपनी भाषा के भण्डार में स्थान दे सकते हैं। साथ ही, स्वयं व्याकरण के प्रदेश में भी बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें हम उच्च-कक्षाओं में सिखाने के लिए रख छोड़ते हैं; जब कि वे सब छोटी उमर के छात्रों को भी परिचय-रूप में अवश्य सिखाई जा सकती हैं। बिलकुल अल्पवय के विद्यार्थियों को भाषा के पदों (पार्टस ऑफ स्पीच) के प्रत्येक अंग की विशेषता का अनुभव प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा कराया जा सकता है।

अनुध्वनि शब्द मूलध्वनियों के परिचय से जल्दी समझ में आते हैं। शब्द के कुटुम्बी शब्दों की खोज की तरफ बालकों का ध्यान आकर्षित करने से उन्हें शब्दों के सम्बन्ध और सामर्थ्य, दोनों, का ज्ञान होगा। मूल शब्द हाथ है, हाथ शरीर का अंग होने के कारण पुराना शब्द है। उससे बने हुए हाथ की गरज पूरी करने वाले, हाथ-वाचन शब्दों का ज्ञान बालक को शीघ्र ही हो सकता है और वह समझ में भी आ जाता है। जैसे, हाथ से हथौड़ा, हथेली, हथियार, हत्था, हथियाना आदि। इसी तरह पेट मूल शब्द है। उससे पेटी, पेटू, पेटूपन, पिटारी, आदि शब्द बनाये जा सकते हैं। ये शब्द एक तरह व्युत्पत्ति-शास्त्र में आ सकते हैं, परन्तु व्युत्पत्ति तो मात्र क्रियापदों से बनने वाली संज्ञाओं, विशेषणों आदि का वर्णन करती है। यहाँ वैसा क्रम या नियम नहीं है। इन शब्दों को कुटुम्बी शब्द कहा जाता है।

क्रियापदों का ज्ञान बालकों को चिट्‌ठी के खेल से कराया जा सकता है। उन्हें चलो, उठो, बैठो, खेलो, पढ़ो, बोलो, लिखो, नाचो, कूदो आदि चिट्‌ठियाँ देकर तदनुसार क्रिया करने को कहिये, वे बड़ी खुशी के साथ करेंगे। उन्हें व्याकरण की भाषा में यह जानने की आवश्यकता नहीं कि ये सब क्रियापद हैं। वे शब्दों के सामर्थ्य का स्वयं अनुभव कर लेते हैं, यही पर्याप्त है। इसी तरह

संज्ञा-वाचन शब्दों का भी परिचय कराया जा सकता है। जैसे, उनसे कहिये कि जो-जो नाम वाली चीजें हों, ले आओ और लाकर लाई हुई चीज का नाम बोलो। यह एक सुन्दर खेल बन जायगा। बालक दौड़ पड़ेंगे और मेज, कुर्सी, दावात, होल्डर, कागज, सरला, मनोरमा, गोविन्द, मोहन आदि जो भी मिलेंगे, उन्हें ले आवेंगे। इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें संज्ञा का परिचय हो जायगा। फिर हम उनसे पेन्सिल लाने को कहें। बालक पूछे कि कौनसी पेन्सिल ? तो कहें, पीली। फिर बहुतेरी लकड़ियों में से एक लकड़ी मँगावें और जब बालक पूछे, कौनसी ? तो कहें, लम्बी। इस प्रकार उन्हें एक-न-एक विशेषता दर्शक नये-नये शब्द दें। इससे बालकों के दिल पर यह छाप पड़ेगी कि संज्ञा-वाचक शब्दों और उनकी विशेषता बताने वाले शब्दों, अर्थात् विशेषणों में मौलिक भेद है।

इस प्रकार उनके मन पर शब्दों-सम्बन्धी छाप का पड़ना ही पर्याप्त है। यह संस्कार या छाप खेल में उपयोगी होने वाली चिट्ठियों द्वारा डाली जाय, तो अच्छा हो। ऐसा प्रभाव डालने वाली वाचन-पोथियाँ भी उपयोगी हैं। जैसे, संज्ञा-पोथी, जिसमें संज्ञायें हों; क्रियापद-पोथी, जिसमें केवल क्रिया-पद ही हों।

इनके सिवाय अन्य अनेक प्रकार की पोथियाँ व्याकरण का अप्रत्यक्ष परिचय करा सकती हैं। जैसे, द्विरुक्ति-वाचक शब्दों की पोथियाँ, भाँति-भाँति के समास वाले शब्दों की पोथियाँ, व्याकरण की विचित्रता बताने वाली पोथियाँ, इत्यादि। प्राथमिक पाठशाला से व्याकरण हटाकर इस प्रकार व्याकरण के अंगों का, प्रसंगानुसार, खेल के रूप में, परिचय कराया जायगा, तो बालक उसे तुरन्त ग्रहण कर लेंगे। आगे चलकर जब विधिवत् व्याकरण सीखने का समय आवेगा, तो यह परिचय उनके लिए लाभदायक होगा। एक तरह वे यह भी सोचेंगे कि हम तो व्याकरण जानते ही हैं, केवल उसके शास्त्र की परिभाषा अब सीख रहे हैं!